

श्रीजिनदत्तसूरिप्राचीनपुस्तकोद्धारफण्ड(सुरत) ग्रन्थाङ्कः—(४६)

अर्हम् ।

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

श्रीसप्तस्मरणस्तवः ।

श्रीमल्लवतरगच्छाधीश्वर—श्रीअकव्वरशाहिप्रतिबोधक—जङ्गमयुगप्रधान—भट्टारक—
श्रीमज्जिनचन्द्रसूरि शिष्य—पण्डितप्रवर—महोपाध्याय—सकलचन्द्रगणि—
शिष्योपाध्याय—श्रीसमयसुन्दर—गणि—
विरचितव्याख्यया समलंकृतः ।

अर्थ—

जङ्गमयुगप्रधान—भट्टारक—श्रीमज्जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वराणां शिष्यरत्नोपाध्याय—
श्रीसुखसागरोपदेशात्—फलवर्द्धि—वास्तव्य—जबलपुरनगरसंस्थित—
श्राद्धचर्य—श्रीमत्प्रतापचन्द्र—संपतलालगोलेछा—यतिमोतीचन्द्र—
फण्डव्यवस्थापक—श्रीयुतरत्नचन्द्रगोलेछा द्वय—
साहाय्येन मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

प्रकाशकः—

श्रीजिनदत्तसूरिज्ञानभण्डार
सुरत.

विक्रमसंवत् १९९९

प्रतयः २५० भेट

ईस्वी सन् १९४२

पानकोरनाकानिकटवर्तिनि श्रीशारदामुद्रणालये तदधिपतिना देवचन्द्रात्मजेन
पण्डितहीरालालेन अमदावादनगरे मुद्रितम्

श्रीजिनदत्तसूरिप्राचीनपुस्तकोद्धारफण्ड(सुरत) ग्रन्थाङ्कः—(४६)

अर्हम् ।

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

श्रीसप्तस्मरणस्तवः ।

श्रीमत्स्वरतरगच्छाधीश्वर—श्रीअकब्बरशाहिप्रतिबोधक—जङ्गमयुगप्रधान—भट्टारक—
श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिशिष्य—पण्डितप्रवर—महोपाध्याय—सकलचन्द्रगणि-
शिष्योपाध्याय—श्रीसमयसुन्दर—गणि-
विरचितव्याख्यया समलंकृतः ।

अयं—

जङ्गमयुगप्रधान—भट्टारक—श्रीमज्जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वराणां शिष्यरत्नोपाध्याय—
श्रीसुखसागरोपदेशात्—फलवर्द्धि—वास्तव्य—जबलपुरनगरसंस्थित—
श्राद्धवर्य—श्रीमत्प्रतापचन्द्र—संपतलालगोलेछा—यतिमोतीचन्द्र—
फण्डव्यवस्थापक—श्रीयुत्तरनचन्द्रगोलेछा द्वय-
साहाय्येन मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

नक्त्र सूचन

इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत
समयावधि में श्रीप्र वापस करने की कृपा करें,
जिससे अन्य वाचकगण इसका उपयोग कर सकें.

ॐ

विक्रमसंवत् १९९९

प्रतयः २५० भेट

ईस्वी सन् १९४२

पानकोरनाकानिकटवर्तिनि श्रीशारदामुद्रणालये तदधिपतिना देवचन्द्रात्मजेन
पण्डितहीरालालेन अमदावादनगरे मुद्रितम्

सतस्मरणस्तवानुक्रमः ।



| विषय | पृष्ठाङ्कः |
|---|------------|
| १ अजितशान्ति स्तवः । | १ |
| २ 'उल्लासिक्रम' (लघुअजितशान्ति) स्तवः । | १४ |
| ३ 'नमिऊण' स्तवः । | २१ |
| ४ 'तंजयउ' (गुरुपारतन्त्र्य) स्तव | २९ |
| ५ 'मयरहिय' स्तवः । | ३६ |
| ६ 'सिग्धमवहरउ' स्तवः । | ४४ |
| ७ 'उवसग्गहर' स्तवः । | ४६ |



Serving Jinshasan



081718

gyanmandir@kobatirth.org



श्रीमान् प्रतापचन्दजी गोलेच्छा

शुद्धिपत्रम् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० पं० |
|--------------------|------------------------|---------|
| तच्च लक्षणं | तल्लक्षणं | १ १७ |
| ज्ञेयः | ज्ञेयम् | १ १८ |
| शान्ति | शान्तिः | २ १० |
| महामुने | महामुनेः | २ २६ |
| कर्तुं | कर्तुं शीलं | २ २६ |
| ...निवृत्ते... | ...निवृत्ते... | २ २७ |
| छन्द | छन्दः | ३ १६ |
| शान्तिसमाधिः | शान्तिसमाधिः स | ३ ३१ |
| शान्तिसमाधिः स | | ३ ३१ |
| स्तोतृ | स्तोता | ४ ५ |
| पूर्व | पूर्वं | ४ ६ |
| कल्याणगी वाक् | कल्याणी गीर्-वाक् | ४ २० |
| पतावता यस्य स | पतावता यस्य | |
| तम् । पतावता | भगवतः | |
| यस्य स भगवतः | | ४ ३१ |
| महाचक्रवट्टीभोष | महाचक्रवट्टिभोष | ५ ६ |
| शान्तिम् | शान्तिः | ५ ८ |
| महान् प्रभावः | महाप्रभावः | ५ ८ |
| महान् | महान् | ५ ९ |
| पदत्रयस्य स | पदत्रयस्य | ५ १६ |
| अपरमितं | अपरिमितं | ५ ३४ |
| हे अजियबला ! | हे अमियबला ! | ६ १ |
| प्रदिस | प्रदिश | ६ ११ |
| प्रधानम् (संबोधनं) | प्रधानः, तस्य संबो- | |
| संबोध्यः । | धनं हे शक्ति० । | ६ १६ |
| बंधध्येय ? | बन्धध्येय ! | ६ २० |
| भाविता अवबुद्धयः | भाविताः अवबुद्धयः | ६ २० |
| अंगुष्ठपमाणं | अंगुष्ठपमाणयं | ७ १ |
| पायगुष्ठं | पायगुष्ठं | ७ २ |
| शारीरं, तस्मिन् | ह्यारीरं देहजमित्यर्थः | |
| शारीरे देहजमि- | तस्मिन् शारीरे । | ७ ६ |
| इत्युक्ते | इत्युक्तिः | ७ १७ |
| महामुणि | महामुणिं | ७ २५ |
| सोमगुणेहिं पावइ | सोमगुणेहिं न तं | |
| | पावइ | ७ २६ |
| सिरि | सिर | ८ ११ |
| ...यैस्ते | यैस्ते | ८ १२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० पं० |
|----------------------|--------------------|---------|
| विनयावनतरचिता- | विनयावनतशिरोर- | |
| ञ्जलयः रचिताञ्जल- | चिताञ्जलयः । | |
| यश्च विनयावनतर- | | |
| चिताञ्जलयः । | | ८ १३ |
| धनपतय | धनपति | ८ १७ |
| समुखं | सुमुखं | ८ २५ |
| अजितं बाह्या... | अजितं न बाह्या... | ८ २९ |
| विआरिणी | विआरिणि | ९ ३३ |
| सालीणि... | सालिणि | ९ ३४ |
| कहिं वि | केहिं वी | १० ६ |
| शरीरमनसम्बन्धि... | शरीरमनःसम्बन्धी | १० १४ |
| दंसणीयाहिं | दंसणियाहिं | १० ३३ |
| स्तुतवन्दितस्य | स्तुतवन्दितस्य | ११ २७ |
| प्रधान | प्रधानं | ११ २९ |
| सतीभिः | सतीभिः | ११ ३१ |
| च ? | च पुनः | १२ १० |
| किंकणिका | किंकणिका | १२ १२ |
| तुरगो | तुरगः | १२ ३२ |
| ध्वजवरमकरश्रीव- | ध्वजवरमकरतुरग | |
| त्सानि | श्रीवृक्षानि | १२ ३३ |
| कि० अ० | कि० | १३ ६ |
| गइ | गइं | १३ २२ |
| यः सो कोऽपि | यः कोऽपि | १४ १३ |
| शुद्धिरेव तस्मिन् | शुद्धिरेतस्मिन् | १४ १५ |
| विहिताय | विहिता हिताय | १४ १६ |
| दुविज्ज... | दुविज्ज | १४ २७ |
| कि० द्वौ | कि० द्वि० ? | १४ २८ |
| नाणकुह' | नाणकुहकैरे' | १५ ३ |
| दर्शयन्नाह- | दर्शयन्- | १५ ३१ |
| नमिरसुकिरीड- | नमिरसुरकिरीड- | |
| गिघट्ट | गिघट्ट | १६ २ |
| कितिशिष्टौ यौ ययोः | किंविशिष्टयोर्ययोः | |
| सकलजगतहितयो | सकलजगद्धितयोः | १६ ६ |
| अचित्योरुसत्ती | अचितोरुसत्ती | |
| वर्तते इति इतिशेषः । | वर्तते इति शेषः । | १६ ११ |
| जिनपदभक्तिः | जिनयुगपदभक्तिः | १६ १३ |
| किं नर्त्तकाः ? | किल नर्त्तकाः | १६ २६ |
| भगवत्दर्शनं | भगवद्दर्शनं | १६ २८ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० पं० |
|----------------------|-------------------------|---------|
| असह इत्यर्थः | असहन्य इत्यर्थः। | १६ २९ |
| पहरणम् 'भूरि | नृत्यो पहारम् ? | |
| दिव्यं द्वारं' | भूरिदिव्यां गहारं' | १६ ३० |
| स्फुटसघन | स्फुटघनरस | १६ ३१ |
| इतिहेतोः | इतिहेतोः | १६ २६ |
| मिथ्यात्वछिन्नं | मिथ्यात्वछन्नं | १८ ८ |
| फुलनीलुप्पलाहिं | फुलनितुप्पलाहिं | १९ २८ |
| प्रसन्ना | पसन्ना | १९ ३० |
| पूर्णमापर्व | पूर्णमापर्व | १९ ३२ |
| तद्वत् सुखं | तद्वत् वदनं सुखं | १९ ३२ |
| नेत्राण्येव उत्पलानि | नेत्राण्येव उत्पलानि | |
| नयनकमलानि | नेत्रोत्पलानि नय- | |
| निर्निमेषः | नकमलानि पुलानि | |
| | निर्निमेष... | १९ ३३ |
| सुप्पसाया | सप्पसाया | २० ९ |
| स्वाध्यायतो | स्वाध्यायत | २० २६ |
| यूयं मनसि | यूये चित्ते- | |
| आर्द्र | मनसि आर्त्त | |
| चातुर्मासिकं । | चातुर्मासिकं तस्मिन् | |
| | चातुर्मासिकपर्वणि | |
| | इत्यर्थः । | २० २९ |
| नाशयतीति दुःख- | नाशयतीति गुरु- | |
| त्रासं | दुःखत्रासं | २० ३१ |
| पुनस्तवतां | पुनः स्तवतां | २१ ९ |
| पंचमचक्रीसर | हे पंचमचक्रीश्वर । | २१ १० |
| स्तोत्रकर्त्ता | स्तोत्रकर्त्ता | २१ ११ |
| महाक्रषिणापि | महर्षिणापि | २१ १५ |
| तृतीयस्तवम् | तृतीयस्तवः | २१ २१ |
| श्रीपार्श्वनाथस्तवनं | श्रीपार्श्वनाथं स्तुवन् | २१ २३ |
| विशेषण कर्मधारयः | विशेषणकर्मधारयः | २२ १० |
| च्छाहा' | च्छाया' | २२ १६ |
| सतः | सन्तः | २२ १९ |
| सम्बन्धातिशय | सम्बन्धातिशय- | |
| संख्यापठनार्थः । | ख्यापनार्थः । | २२ २४ |
| रोग | रोग | २२ २८ |
| वक्ष्यमाणाय | वक्ष्यमाणायाम् | २२ २८ |
| संभ्रान्तं | शंभ्रान्तं | २३ १४ |
| गहणं | गहणे | २३ २९ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० पं० |
|---------------------|----------------------|---------|
| कीटकतुल्यं | कीटकेन तुल्यं | २४ १० |
| किंचिशिष्टं भुजंग | किंचिशिष्टं भुजंगं ? | |
| चिलसितं 'भोग... | चिलसंतभोग... | २४ १५ |
| भोगो हि काय... | भोगोऽहिकाय... | २४ १७ |
| विलसद्भोग... | विलसद्भोग... | २४ २१ |
| उल्लूरीय... | उल्लूरिय... | २४ २९ |
| सिधं | सिग्धं | २४ ३२ |
| प्रतिता | पतिता | २५ २८ |
| यस्य भगवानिय | यस्य सः प्र० तस्य | |
| | भगवानेव | २५ २८ |
| यो किल | यो हि किल | २६ १५ |
| कयोः ? यः | तयोः कयोः ? यः | २८ ८ |
| भव्याः सन्ति | भव्यनामानः सन्तः | २८ १८ |
| माहात्म्यपूर्वं | माहात्म्यमाह-पूर्वं | २८ २७ |
| अवस्थासु पठति | अवस्थासु यः पठति | २८ २७ |
| स्मरणश्चक्रे | स्मरणस्तवश्चक्रे | २९ २३ |
| चतुर्विधं | चतुर्विधः | २९ २६ |
| ...कृष्णादिलेभ्याः | ...कृष्णादिलेभ्याः | |
| पुनः | यैस्ते निहतकुलेभ्याः | |
| | पुनः | ३० ६ |
| अमे अंते | आदिमेअंते | ३० १८ |
| दो मेयाखीणाभि- | दो दो मेयाखीण- | |
| लावेणगुणतीसं | भिलावेणगतीसं | ३० १९ |
| निः सांसारिक... | न सांसारिक... | ३२ १२ |
| किं विशिष्टस्य ? | किं विशिष्टस्य | |
| | तीर्थस्य ? | ३२ १३ |
| धरणीन्द्र- | धरणेन्द्र- | ३५ ३ |
| किं कुर्वत् ? तेजसा | किं कुर्वत् ? ज्वलत् | |
| | तेजसा | ३५ १३ |
| तन्पूर्वं | तत् अपूर्वं | ३५ १३ |
| मत्स्यानां हित... | मत्स्यानां हितं- | |
| | हित... | ३७ ९ |
| नामं | नाम- | ३७ २६ |
| व्याख्याताः | व्याख्यातः | ३८ १९ |
| असंमता | असंमता | ३९ २८ |
| सप्तमोपदेशेऽपि | द्वादशोपदेशेऽपि | ३९ ३२ |
| ...ग्रन्थकरत्वेन | ...ग्रन्थकरणत्वेन | ४० ५ |
| आलोचना | आलोचा | ४० १० |

॥ अहम् ॥

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

सप्तस्मरणस्तवम्

जङ्गम-युगप्रधान-भट्टारक-श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिप्रशिष्य-उपाध्याय-
समयसुन्दरगणि-विरचितव्याख्यया समलंकृतम्

करोति श्रीजिनं नत्वा, गणिः समयसुन्दरः ।

सप्तस्मरणसूत्रस्य, वृत्तिं सुगमबोधिकाम् ॥१॥

प्रथमस्मरण ।

अजियं जियसव्वभयं, संतिं च पसंतसव्वगयपावं ।

जयगुरुसंतिगुणकरे, दोवि जिणवरे पणिवयामि ॥१॥ गाहा ॥

व्याख्या:—अहमिति शेषः । ‘दोवि’ द्वौ अपि जिनवरौ तीर्थकरौ । ‘पणिवयामि’ प्रणिपतामि—प्रणमामि । द्वौ कौ इत्याह—‘अजियं’ अजितनामानं द्वितीयं तीर्थकरम् । किंविशिष्टं अजितं ? ‘जितसर्वभयम्’ जितानि इहलोकादिसर्वसप्तभयानि येन स जितसर्वभयस्तम् । च पुनः ‘संतिं’ शान्तिनाथं षोडशतीर्थकरम् । किंविशिष्टं शान्तिम् ? ‘पसंतसव्वगयपावं’ प्रशान्तस्य प्रशमं प्राप्तस्य, सर्व—समस्तं गतं क्षीणं पापं अशुभं कर्म यस्य सः प्रशान्तसर्वगतपापस्तं प्र० । किंविशिष्टौ द्वौ अपि जिनवरौ ? ‘जयगुरुसंतिगुणकरे’ जगतो गुरु जगद्गुरु । पुनः शान्तिः कषायोदयस्य नाशरूपा गुणाश्च ज्ञानादयस्तान् कुरुतः शान्तिगुणकरौ । ततः कर्मधारयसमासः । जगद्गुरु(रौ) च तौ शान्तिगुणकरौ च जगद्गुरुशान्तिगुणकरौ तौ ज० । ‘गाहेति’ इयं गाथा तच्च लक्षणं छन्दः—शास्त्रात् ज्ञेयः ॥१॥

ववगयमंगुलभावे, ते-हं विउलतवनिम्मलसहावे ।

निरुवममहप्पभावे, थोसामि सुदिट्ठसव्वभावे ॥२॥ गाहा ॥

व्याख्या:—‘अहं’ तौ अजितशान्तिनाथौ, ‘थोसामि’—स्तोष्यामि । किंविशिष्टौ ? ‘ते’ इति तौ । ‘दोवयणे बहुवयणं’ इति प्राकृतत्वात् द्विवचने बहुवचनं ज्ञेयम् । ‘ववगयमंगुलभावे’, व्यपगतो नष्टो मङ्गुलभावोऽशोभनो भावो ययोस्तौ व्यपगतमङ्गुलभावौ, तौ व्य० । पुनः किंविशिष्टौ तौ ? ‘विउलतवनिम्मलसहावे’ विउलं—विस्तीर्णं यत्तपो द्वादशप्रकारं विस्तीर्णतपः तेन निर्मलः कर्ममलरहितः स्वभावो[वौ] ययोस्तौ विपुलतपोनिर्मलस्वभावौ तौ । पुनः किं विशिष्टौ तौ ‘निरुवममहप्पभावे’ । निरुपम—[ओ] उपमारहितः, (महान्) गुरोरिष्टः प्रभावः

२

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

शक्तिर्यथोक्तौ निरुपममहत्प्रभावौ । पुनः किंविशिष्टौ तौ ? 'सुदिद्वसम्भावे', सुदृष्टा यथावस्थिता उपलब्धाः सन्तो भावा यावन्तो विद्यमाना याभ्यां तौ सुदृष्टसद्भावौ तौ० । इयमपि गाथा ॥२॥

सव्वदुक्खप्पसंतीणं, सव्वपावप्पसंतीणं ।

सया अजियसंतीणं, नमो अजियसंतीणं ॥३॥ सिलोगो ।

व्याख्या:—'सदा' नित्यं अजितशान्तिभ्यां नमः । अत्र नमोयोगे चतुर्थी । चतुर्थीस्थाने च षष्ठी । प्राकृते च "चउत्थविभत्तीइ भण्णए छट्ठी" इति वचनात् । किं विशिष्टाभ्यां अजितशान्तिभ्याम् ? 'सव्वदुक्खप्पसंतीणं', सर्वेषां दुःखानां प्रशान्तिः अस्ति यथोक्तौ सर्वदुःखप्रशान्ति, ताभ्यां सर्वदुःखप्रशान्तिभ्यां । पुनः किंविशिष्टाभ्यां अजितशान्तिभ्याम् ? "सव्वपावप्पसंतीणं" । सर्वपापानां—अशुभकर्मणां प्रशान्तिः अस्ति यथोक्तौ सर्वपापप्रशान्ति ताभ्यां स० । पुनः किंविशिष्टाभ्यां अजितशान्तिभ्याम् ? 'अजियसंतीणं', अजिता न जिता रागादिभिः शान्ति उपशमरूपा यथोक्तौ अजितशान्ति, ताभ्याम् अजित० ॥ अयं श्लोकोऽष्टाक्षरः ॥३॥

अजिय जिण ! सुहप्पवत्तणं, तव पुरिसुत्तम नामकित्तणं ।

तह य धिइमइप्पवत्तणं, तवइ जिणुत्तम संति कित्तणं ॥४॥ मागहिया ॥

व्याख्या:—हे ? अजित जिने ? तव नामकित्तणं, नाम्नः कीर्तनं संशब्दनं, सुखानां प्रवर्तनं प्रयोजकं वर्तते इति शेषः । हे पुरुषोत्तम ! पुरुषेषु उत्तमः प्रधानः पुरुषोत्तमः, तस्य सम्बोधनं हे पुरुषोत्तम ! । च पुनः तथा हे शान्ते ! तव कित्तणं नाम्नः इति सामर्थ्याद्भूम्यम् । नामकीर्तनं 'धिइमइप्पवत्तणं', धृतेः स्वास्थ्यस्य मतेः प्रज्ञायाः प्रवर्तनं वर्तते । हे जिनोत्तम सन्ति ! अत्र प्राकृतत्वात् हे शान्ते ! इति ज्ञेयम् । मागधिका छन्दः ॥४॥

किरियाविहिसंचियकम्मकिलेसविमुक्खयरं,

अजिअं निचियं च गुणेहिं महासुणि—सिद्धिगयं ।

अजियस्स य संति महासुणिणो वि य संतियरं,

सययं मम निव्वुइकारणयं च नमंसणयं ॥५॥ आलिंगणयं ॥

व्याख्या:—'अहं अजितं'—अजितनाथं वन्दे इति शेषः । किं विशिष्टं अजितं ? 'किरियाविहिसंचियकम्म-किलेसविमुक्खयरं' क्रियाः पञ्चविंशतिः कायिकयाद्याः, तासां विधिनाः भेदेन, संचितानि संगृहीतानि यानि अष्टौ ज्ञानावरणीयादि कर्माणि । पुनः क्लेशाः कषायाः, तेभ्यो विमोक्षः अत्यन्तं पृथग्भावः तं करोतीति क्रिया-विधिसंचितकर्मक्लेशविमोक्षकरस्तं० । पुनः किं० अजितं ? गुणैः ज्ञानादिभिः निचितं व्याप्तं । पुनः किं० अजितं ? 'महासुणिसिद्धिगयं', महासुणीनां सिद्धिर्मुक्तिः तां गतं प्राप्तम् । च पुनः अजितस्य अपि च शान्ति महासुने नमस्यनकं प्रणमनकं एवंविधं वर्तते । किं विशिष्टं नमस्यनकं ? 'संतिअरं' शान्तिः उपशमस्तां कर्तुं शान्तिकरं । पुनः किं० नमस्यनकं । 'सययं मम निव्वुइकारणयं' सततं—निरन्तरं मम स्तोतुनिर्वृत्तेर्भोक्ष्य कारणकं कारकं नमस्यनकं "स्थानद्वये" 'प्रशंसायां कन्प्रत्ययः' । आलिंगणकं नाम छन्दः ॥५॥

पुरिसा जइ दुक्खवारणं, जइ अ विमग्गह सुक्खकारणं ।

अजियं संतिं च भावओ, अभयकरे सरणं पवज्जहा ॥६॥ मागहिया ॥

व्याख्या:—भो पुरुषा ! यदि दुःखानां वारणं प्रतिषेधनं प्रतिक्षेपकं । च पुनः यदि सौख्यानां कारणं हेतुं विमार्गयथ यूयमिति शेषः तदा अजितं च पुनः शान्तिं भावतो भक्त्या एतौ द्वौ अपि तीर्थकरौ शरणं त्राणं प्रपद्यध्वम् । किंविशिष्टौ एतौ द्वौ ? 'अभयकरे' । अभयं कर्तुं शीलं यथोक्तौ अभयकरौ तौ । द्विवचनेऽपि

सप्तस्मरणस्तवम्

३

बहुवचनम् “दोवयणे बहुवयणं” इति वचनात् । ‘पवज्जहा’ अत्र दीर्घत्वं मागधिकाछन्दोवशात् प्राकृतवशाद्वा ।
मागधिकानामछन्दः ॥६॥

अरहरइतिमिरविरहिअमुवरयजरमरणं,

सुरअसुरगरुलमुयगवइपययपणिवइयं ।

अजिय महमवि य सुनयनयनिउणमभयकरं,

सरणमुवसरिय भुवि-दिविजमहिअं सययमुवणमे ॥७॥ संगययं ।

व्याख्या:-अहं इति शेष अजितं शरणं त्राणं उपसृत्य उपगत्य उपनमे । उप सामीप्येन नमामि । किं-
विशिष्टं अजितम् ? ‘अरहरइतिमिरविरहियं’ अरतिः संयमे रतिः असंयमे तिमिरमिव तिमिरं इति कृत्वा अज्ञानं
ततो रहितश्च । अरतिश्च रतिश्च तिमिरं च अरतिरतिरतिमिराणि, तैर्विरहितम् । पुनः किंविशिष्टं अजितं ? ‘उव-
रयजरमरणं’, जरा च मरणं च जरामरणे उपरते जरामरणे यस्य सः उपरतजरामरणस्तम् । पुनः किं० अजि-
तम् ? ‘सुरअसुरगरुलमुयगवइपययपणिवइयं’ सुरा-देवा असुरा-असुरकुमाराः गरुडाः-सुवर्णकुमाराः सुजगा
नागकुमाराः तेषां पतयः स्वामिनः इन्द्राः तैः प्रयतं सम्यक् प्रणिपतितम् । पुनः किं० अजितम् ? ‘सुनयनयनि-
उणं’ सुशोभना नयाः परस्परसापेक्षा नयाः नैगमाद्याः सुनयाः । ते च ते नयाश्च अनेकान्तरूपाः न तु निरपेक्षै-
कान्तरूपाः । तैः तेषु वा निपुणो ज्ञाता तम् । पुनः किं० अजितम् ? ‘अभयकरं’ अभयं कर्तुं शीलं यस्य स
अभयकरस्तं अजितम् । पुनः किं० ‘भुविदिविजमहिअं’ । भुवि-पृथिव्यां, दिवि-देवलोके जाताः मनुष्या
वैमानिकाश्च तैर्महितं पूजितं । संगतकं नाम छन्दः ॥७॥

तं च जिणुत्तम-मुत्तमनित्तमसत्तधरं,

अज्जवमइवखंतिविमुत्तिसमाहिनिहिं ।

संतियरं पणमामि दमुत्तमतित्थयरं,

संतिमुणी मम संतिसमाहिवरं विसउ ॥८॥ सोवाणयं ॥

व्याख्या:-तं शान्तिं अहमिति शेषः । प्रणमामि । किं विशिष्टं तम् ? ‘जिणुत्तमं’, जिनेषु तीर्थकरपदं विना
केवलपि उत्तमो जिनेत्तमस्तम् । पुनः किं० तम् ? ‘उत्तमनित्तमसत्तधरं’ । उत्तमं-प्रधानं, नित्तमं निःकांक्षं
क्षीणावरणत्वात्, निर्जितं यत्सत्त्वं व्यवसायः तं धरतीति उत्तमनित्तमसत्त्वधरस्तम् । ‘तम’ धातुः कांक्षायाम् ।
तमनं तमः भावे अद् । तमाद् निष्क्रान्तं निस्तमं इति निस्तमशब्दस्य व्युत्पत्तिः । पुनः किं० तम् ? ‘अज्जव-
मइवखंति विमुत्तिसमाहिनिहिं’ आर्जवं मायाया अभावः, मार्दवं मानस्य अभावः, क्षान्तिः क्रोधस्य अभावः,
विमुक्तिः लोभस्य अभावः, समाधिं स्वास्थ्यं, ततो द्वन्द्वः, आर्जवं च मार्दवं च क्षान्तिश्च विमुक्तिश्च समाधिश्च
आर्जवमार्दवक्षान्तिविमुक्तिसमाधयस्तेषां निधिरिव निधिस्तम् । पुनः किं० तम् ? । ‘संतिअरं’ शान्तिः
उपसर्गप्रशमः, तां कर्तुं शीलं शान्तिकरस्तं शा० । पुनः किंविशिष्टं तम् ? । ‘दमुत्तमतित्थयरं’, दमः इन्द्रिय-
नोइन्द्रिययोः उपरमः तेन उत्तमः दमोत्तमः । तथा तीर्थकरं तीर्थं कर्तुं शीलस्तीर्थकरस्तं ततः कर्मधारयः ।
दमोत्तमश्चासौ तीर्थकरश्च दमोत्तमतीर्थकरस्तं द० । तथा ‘शान्तिमुनिः’ शान्तिनामा मुनिः मे मङ्गं स्तोत्रकार-
काय शान्ति समाधिवरं दिशतु । शान्तिः उपसर्गप्रशमः तथा समाधिः शान्तिसमाधिः शान्तिसमाधिः स
चासौ वरश्च शान्तिसमाधिवरस्तं शान्ति० ॥ सोपानकं नाम छन्दः ॥८॥

सावत्थिपुव्वपत्थिवं च वरहत्थिमत्थयपसत्थवि[त्थि]च्छिन्नसंथियं,

थिरसरिच्छवच्छं मयगललीलायमाणवरगंधहत्थिपत्थाणपत्थियं संथवारिहं ।

४

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

हृत्थिहृत्थबाहुं धंत-कणगरुयगनिरुवहयपिंजरं, पवरलक्खणोवचियसोमचारुरूवं,
सुइसुहमणाभिरामपरमरमणिज्जवरदेवदुंदुहिनिनायमहुरयरसुहगिरं॥९॥ वेड्डओ।

अजिअं जिआरिगणं, जियसव्वभयं भवोहरिउं ।

पणमामि अहं पथओ, पावं पसमेउ मे भयवं ॥१०॥ रासालुद्धओ ॥

व्याख्या:-‘अहं’ स्तोत्र प्रयतः सन् ‘अजितं’ प्रणमामि । भगवान् मे पापं प्रशमयतु क्षपयतु । इति द्वितीयगाथाया अन्ते उक्तिः । किं विशिष्टं अजितं ? ‘सावत्थिपुव्वपत्थिवं’, श्रावस्त्यां नगर्यां पूर्वगृहवासे पार्थिवो राजा श्रावस्तीपूर्वपार्थिवस्तं । च पुनः किं० अजितं ? ‘वरहत्थिमत्थयपसत्थविच्छिन्नसंधियं’ । वरं च तत् हस्तिमस्तकं च वरहस्तिमस्तकं तद्वत् प्रशस्तं मंगलं विस्तीर्ण-विशालं संस्थितं विशेषणस्य अन्यथा अनुपपत्त्या, प्रशस्तं विस्तीर्णं संस्थानं । पुनः किं० अजितम् ? । ‘थिरसरिच्छवच्छं’, स्थिरं स्वैर्येण कठोरेण सदृशं तुल्यं वक्षो सुजान्तरं यस्य सः तम् । पुनः किं० अजितम् ? ‘मयगल्लीलायमाणवरगंधहत्थिपत्थाणपत्थियं’ मदकल उन्मत्तः स चासौ लीलायमानश्च वरश्च गन्धहस्ती मदकल्लीलायमाणवरगन्धहस्ती, तस्य इव यत् प्रस्थानं गमनं तेन प्रस्थितं यस्य स तम् । पुनः किं० अजितम् ? । ‘संथवारिहं’ संस्तवार्हं स्तवनयोग्यम् । पुनः किं अजितम् ? । ‘हत्थिहृत्थबाहुं’, हस्तिनो हस्तौ सुण्डादण्डौ तौ इव बाहू भुजौ यस्य सः तम् । पुनः किं० अजितम् ? । ‘धंतकणगरुयगनिरुवहयपिंजरं’ । ध्मातं आवर्तितं यत्कनकं सुवर्णं तस्य यत् रुचकं भानाणकविशेषजनाविशेषः तद्वत् ‘निरुपहतं’ उपघातवर्जितं कलंकरहितं ‘पिंजरं पीतवर्णं । पुनः किं० अजितं ? ‘पवरलक्खणोवचियं’ प्रवरैः प्रधानैः लक्षणैश्चक्रस्वस्तिकादिभिः ‘उपचितं’ सामीप्येन व्याप्तम् । पुनः किं० अजितं ? सोमचारुरूवं । सौम्यं सौम्याकारं, चारु शोभनं, रूपं वर्णनं, स्थानं यस्य स तम् । पुनः किं० ? ‘सुइसुहमणाभिरामपरमरमणिज्जवरदेवदुंदुहिनिनायमहुरयरसुहगिरं’ । श्रुती कर्णौ, तयोः सुखहेतुत्वात् सुखा । तथा मनोभिरामा मनसः अन्तःकरणस्य आह्लादकत्वात् अभिरामा । तथा परमरमणीया अत्यन्तप्रधाना । तथा वरदुन्दुभिः वरश्चासौ दुन्दुभिः वरदुन्दुभिः तस्य निनादात् । तस्य ध्वनेः सकाशात् मधुरतरा (स्वा)दुतरा शुभा कल्याणगी वाक् यस्य स तम् । एतावता यस्य स तम् । एतावता यस्य स भगवतः वाणी श्रुतिसुखा मनोभिरामा परमरमणीया वरदेवदुन्दुभिनिनादमधुरतरा वर्तते । वेष्टनकनमल्लन्दः ॥९॥ अथ द्वितीयगाथाशेषपदव्याख्यानं क्रियते । किं० ? अजिअं ‘जियारिगणं’ । जितः अरीणां बाह्याभ्यन्तराणां गणः समूहो येन सः जितारिगणस्तं जि० । पुनः किं० अजितम् ? ‘जियसव्वभयं’, जितानि सर्वाणि सप्तापि भयानि येन सः जितसर्वभयः तम् । पुनः किं० ? ‘भवौघरिपुं’ भवस्य संसारसमुद्रस्य ओषः प्रवाहस्तस्य रिपुखि रिपुस्तस्य छेदत्वात् भवौघरिपुस्तं भ० । रासालुब्धकं नाम लन्दः ॥९॥१०॥

अथ श्रीशान्तिनार्थं पदद्वयेन स्तुवन्नाह—

कुरुजणवयहत्थिणाउरनरीसरो पढमं तओ महाचक्कवट्टि भोए, महप्पभावओ जो
वावत्तरिपुरवरसहस्सवरनगरनिगमजणवयवई बत्तीसारायवरसहस्साणुयाय-
मगो, चउदसवररणनवमहानिही, चउसट्टिसहस्सपवरजुवईण सुंवरवई,
बुलसीहयगयरहसयसहस्ससामी, छन्नवइगामकोडिसामी आसि जो भारहंमि
भयवं ॥११॥ वेड्डओ ।

तं संतिं संतिकरं संतिणं सव्वभया ।

संतिं धुणामि जिणं, संतिं वेहेउ मे भयवं ॥ रासानंदियं ॥११॥१२॥

ससिस्मरणस्तवम्

५

व्याख्या:—अहं तं 'शान्ति' शान्तिनाथं स्तौमि । किं० शान्तिनाथं ? शान्तिकरं सुगमं । पुनः किं० शान्तिम् ? 'सर्वभयासंतित्रं' सर्वभयात् संतीर्णं सम्यक् तीर्णं । पुनः किं० शान्ति ? शान्तिकर्तारम् । सूत्रत्वाच्च पौनरुक्त्यम् । पुनः किं० शान्तिम् ? जिने रागद्वेषजेतारम् । भगवान् शान्तिर्मह्यं शान्तिं 'वेहेउ' विदधातु । अथ पूर्वपदव्याख्या—यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तं कं । यः 'भारते' भरतक्षेत्रे एवंविधः श्रीशान्तिः आसीत्—वभूव । किं० ? यः शान्तिः प्रथमं आदौ 'कुरुजनवयहृत्थिणाउरनरीसरो' कुरुनामानो जनपदा देशाः । तेषु हस्तिनापुरं नगरं तस्य नरेश्वरो राजा । पुनः 'तओ महाचक्रवर्तीभोए', ततः कुमारकालात् उत्तरकालं महाचक्रवर्ती भोगान् बुभूजे इति शेषः महांश्चासौ चक्रवर्ती च षट्षंडभरताधिपश्च महाचक्रवर्ती तस्य भोगास्तान् । अथवा महान्तश्च ते चक्रवर्तिनो भोगास्तान् एवं समासः । पुनः किं० शान्तिम् ? 'महान् प्रभावः' महानप्रभावो यस्य स महाप्रभावः । पुनः किं० शान्तिम् ? 'बावत्तरिपुरवरसहस्सवरनगरनिगमजणवयवई' । द्वास-सतिपुरवरसहस्सवरनगरनिगमजनपदपतिः । पुरवरादीनां पदानां विवेचनं एवं, पुरवराणि जनपदप्रधानानि ग्राह्याणि । तदव्यतिरिक्ता नगरनिगमाः । न विद्यते करो येषु तानि नगराणि, 'निगमा' बृहद्वणिक्स्थानानि विशेषणस्य पूर्वनिपाताभावः प्राकृतवशात् वेदितव्यः । पुनः किं० शान्तिम् ? 'वत्तीसारायवरसहस्साणुयायमग्गो' द्वात्रिंशच्च से राजमार्गवराणां प्रधानवद्धमुकुटानां महीपतीनां सहस्राश्च तैः 'अनुयातो' अनुगतो मार्गः—पन्थाः यस्य सः द्वात्रिंशद्वाजवरसहसानुयातामार्गस्तम् । पुनः किं० शान्तिम् ? 'चउदसवररयणनवमहानिहिचउसट्टिसहस्सपवरजुवईण सुंदरवई' चतुर्दश च तानि वररत्नानि चतुर्दशवररत्नानि, नव च महानिधयश्च नवमहानिधयः, चतुःषष्टिसहस्रपवरयुवतयश्च । ततः पद त्रयस्य स द्वन्द्वे कृते तेषां तासां च सुरन्दरः शोभनश्चासौ पतिश्च भर्ता । पुनः किं० शान्तिः ? । 'चुलसीहयगयरहस्यसहस्सामी' हयाश्च गजाश्च रथाश्च हयगजराथाश्च तेषां [तस्य] प्रत्येकं चतुरशीतिश्च शतसहस्रा लक्षाः, तेषां स्वामी । पुनः किं० शान्तिः ? 'छन्नवईगामकोडिसामी', षण्णवतिश्च ता ग्रामाणां [कोट्यश्च]कोट्यः षण्णवतिग्रामाणांकोट्यः तासां स्वामी ॥ वेष्टनक्रामछन्दः ॥११॥१२॥

अथैकेन पद्येन स्तुवन्नाह—

इक्ष्वागविदेहनरीसर ! नरवसहा ! मुणिवसहा !,

नवसारयससिसकलाणण ! विगयतमा ! विहूअरया ! ।

अजि[य] उत्तम ! तेअगुणेहिं महामुणि ! अमिअवला ! विउलकूला !

पणमामि ते भवभयमूरण ! जगसरणा ! मम सरणं ॥१३॥ चित्तलेहा ।

व्याख्या:—हे अजित ! अहं ते तुभ्यं प्रणमामि । हे इक्ष्वागविदेहनरीसर ! इक्ष्वाकोः अपत्यं ऐक्ष्वाकः, स चासौ विदेहानां तन्निवासिनां जनानां जनपदस्य नरेश्वरो राजा ऐक्ष्वाकविदेहनरेश्वरस्तस्य संबोधनं हे ऐक्ष्वाकविदेहनरेश्वर ! हे नरवृषभा, ! नरो वृषभ इव नरवृषभः । "उपमितं व्याघ्रादिभिरिति" समासः । तस्य सम्बोधनं हे नरवृषभ ! दीर्घत्वं सर्वत्र प्राकृतत्वात्, छन्दोमात्रभंगभयाद्वा । पुनः हे मुनिवृषभा ! मुनिः वृषभ इव तथैव समासः । तस्य सम्बोधनम् । पुनः हे नवसारयससिसकलाणण ! शरदि भवः शारदः । नवश्चासौ शारदश्च असौ शशी—चन्द्रः नवशारदशशी । सकलः—संपूर्णः एतद्विशेषणस्य पूर्वनिपाताभावः प्राकृतत्वात् तद्वदानं यस्य स नवशारदशशिसकलाननः तस्य सम्बोधनम् । पुनः हे विगयतमा !, विगतं तमो अज्ञानं यस्य स विगततमा, तस्य सम्बोधनम् । पुनः हे विहूअरया !, 'विधूतं' कम्पितं रजो बध्यमानं च कर्म येन सः विधूतरजाः तस्य सं० । हे अजितउत्तम !, अजितश्चासौ उत्तमश्च अजितोत्तमस्तस्य सं० । कैः उत्तम इत्याह—तेजोगुणैः । पुनः हे महामुने ! महातपस्विन् । पुनः हे अमिअवला ! अमितं अपरमितं बलं सामर्थ्यं यस्य सः

६

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

अमितबलस्तस्य सं० हे अजियबला । हे विउलकला ! विपुला-विस्तीर्णा कलाः यस्य सः विपुलकलस्तस्य सं० । क्वचित् “विपुलकुलेति” पाठः । तस्यायमर्थः-विपुलं कुलं वंशो यस्य सः । तस्य सं० । हे भवभयमूरण ! भवस्य संसारस्य भयं भवभयं, तस्य मूरणः चूरणः हे भव० । पुनः हे जगसरणा ! हे जगत्त्राण जिन ! त्वं मम शरणं वर्तते इति शेषः ॥१३॥

अथ श्रीशान्तिनाथं स्तुवन्नाह—

देवदाणविदचंद सूरवंद ! हट्ट तुट्ट जिट्ट परम-

लट्ट रूव ! धंतरुप्पपट्टसेअ सुद्धनिद्धधवल-

दंत पंति ! संति सत्ति कित्ति मुत्तिजुत्तिगुत्ति पवर !

दित्ततेअ ! वंदधेय ! सव्वलोअ भावियप्पभावणे ! य पइस मे समहिं ॥१४॥

नारायओ ।

व्याख्या:-हे शान्ते ! मे मह्यं समाहिं स्वास्थ्यं प्रदिस प्रदेहि । हे देवदाणविदचंदसूरवंद ! देवाः-सुराः, दानवा-असुराः तेषां इन्द्राः दानवेन्द्राः । चंद्राः-चन्द्रमसः सूरः-सूर्याः । ततः देवदानवेन्द्राश्च चन्द्राश्च सूरश्च देवदानवेन्द्रचन्द्रसूरस्तेषां वन्द्यः, तस्य सम्बोधनम् । पुनः हे हट्ट तुट्ट जिट्ट परम लट्टरूव ! ‘हट्ट’ आरोग्यं, तुष्टं प्रीतिं, ज्येष्ठं प्रशस्यतमं परमं श्रेष्ठं(लुष्टं) अत्यन्तकान्तरूपं वर्णसंस्थानं यस्य स हट्टतुष्टज्येष्ठपरमलट्टरूपस्तस्य सम्बोधनम् । पुनः हे धन्तरुप्पपट्टसेयसुद्धनिद्धधवलदंतपंति ! ध्मांतं आवर्तितं यत् रौप्यं तस्य पट्टः तद्वच्चवेतो विशेषणमेतत्, शुद्धे-निर्मले, स्निग्धे-अरुद्धे, धवले-शुक्ले, विशेष्यमेतत् । ततो न पौनरुक्त्यं । दन्तानां पंक्तिर्यस्य सः, तस्य सम्बोधनं हे धन्त० । हे संतिसत्तिकित्तिमुत्तिजुत्तिगुत्तिपवर ! शक्तिः-सामर्थ्यं, कीर्तिः-श्लोकः, मुक्तिर्निर्लोभता, युक्तिरन्यायत्वं, गुप्तिर्नियमः ततो द्वन्द्वे कृते शक्तिकीर्तिमुक्तियुक्तिगुप्तयः तामिः प्रवरः प्रधानम् (सम्बोधनं) संबोध्यः । पुनः हे दित्ततेअ !, दीप्तं तेजो यस्य सः दीप्ततेजाः, तस्य सं० । पुनः हे ‘वंदधेय’ वन्द्य ध्येय ? गणधरादिसरणीयं । पुनः हे सव्वलोअभावियप्पभावणे ! सर्वलोकेन भावितो अवबुद्धयः प्रभावः शक्तिः तेन ज्ञेयः । तस्य सं० । नाराचकनाम छन्दः ॥१४॥

अथ श्रीअजितनाथं पदद्वयेन स्तुवन्नाह—

विमलससिकलाहरेअसोमं, वितिमिरसूरकराहरेअतेअं ।

तिअसवइगणाहरेअरूवं, धरणिधरप्पवराहरेअसारं ॥१५॥ कुसुमलया ।

सत्ते अ सया अजियं, सारीरे अ बले अजियं ।

तवसंजमे अ अजियं, एस थुणामि जिणं अजियं ॥१६॥ भुयगपरिरंगिअयं ॥

व्याख्या:-एषः-अहं अजितं स्तौमि । द्वितीयपद्यान्ते उक्तिर्लोपनिका । किं० अजितम् ? ‘विमलससिकलाहरेअसोमं’ विमला याः शशिकलाश्चन्द्रकला स्तस्याः सकाशात् अतिरेकं सौम्यम् सौम्यता यस्य सः विमल-शशिकलातिरेकसौम्यस्तं विमल० । पुनः किं० अजितम् ? । वितिमिरसूरकराहरेअतेअं । ‘वितिमिरा’ मेघान्व-काररहिता ये सूर्यस्य कराः-किरणाः तेभ्यो अतिरेकं अधिकं तेजो यस्य सः तं विति० । पुनः किं० अजितम् ? तिअसवइगणाहरेअरूवं त्रिदशानां देवानां पतय इन्द्राः, तेषां गणः समूहः, तस्मात् अतिरेकं अधिकं रूपं यस्य सः तं० । यतः श्रीआवश्यकनिर्युक्तिः-

सप्तस्मरणस्तवम्

७

“सर्वसुरा जडरूवं अंगुष्ठपमाणं विउन्विज्जा ।

जिण पायगुड्डे पइ न सोहए तं जहिं गालो ॥१॥”

पुनः किं० अजितम् ? ‘धरणीधरप्पवराइरेअसारं’ । ‘धरणीधराः’ पर्वताः तेषु प्रवरः प्रधानः मेरुस्तस्मात् अतिरेकं सारः बलं यस्य सः धरणीधरप्रवरातिरेकसारस्तम् । कुसमलतानाम् छन्दः ॥१५॥

पुनः किं० अजितं ? च पुनः, ‘सत्त्वे’ व्यवसाये सदा सर्वकालं अजितं न केनापि अभिभूतम् । च पुनः बले सामर्थ्ये अजितं, किं वि० बले शारीरे शरीरस्य इदं शरीरं, तस्मिन् शरीरे देहजमित्यर्थः । पुनः किं० अजितम् ? ‘तवसंजमे अ अजिअं’ तपो द्वादशप्रकारं । संयमः सप्तदशभेदः । ततः समाहारद्वन्द्वः । तपश्च संयमश्च तपःसंयमौ तयो समाहारः तस्मिन् अजितं, न केनापि जितम् ॥१६॥ भुजंगपरिरिगितं नाम छन्दः ॥१६॥

अथ पद्यद्वयेन श्रीशान्तिनाथं स्तुवन्नाह—

सोमगुणेहिं पावइ न तं नवसरयससी,

तेअगुणेहिं पावइ न तं नवसरयरवी ।

रूवगुणेहिं पावइ न तं तिअसगणवई,

सारगुणेहिं पावइ न तं धरणिधरवई ॥१७॥ खित्तयं ॥

तित्थवरपवत्तयं तमरयरहियं, धीरजणथुयच्चियं चुअकलिकलुसं ।

संतिसुहपवत्तयं तिगरणपयओ, संतिमहं महामुणिं सरणमुवणमे ॥

॥१८॥ ललितअयं ॥

व्याख्याः—अहं ‘शान्तिं’ श्रीशान्तिनाथं शरणं उपनमे इत्युक्ते । किं शान्तिम् ? ‘तित्थवरपवत्तयं’ तीर्थे चतुर्विधः संघः, वरं च प्रधानं तस्य प्रवर्तकं, विशेषणस्य विपर्यासः प्राकृतत्वात् । पुनः किं वि० शान्तिं—‘तमरय-रहिअं’ तमो बद्धयमानकर्म उपलक्षणत्वात् बद्धं च कर्म ताभ्यां रहितं—वर्जितं ॥ पुनः किं० शान्तिम् ? ‘धीरजणथुअच्चियं’, धिया राजते इति धीरः सत्त्ववांश्च । धीरश्चासौ जनश्च धीरजनः, तेन धीरजनेन स्तुतः वाग्भिः, अर्चितः पुष्पादिभिः, तं धी० । पुनः किं विशिष्टं शान्तिम् ? ‘चुअकलिकलुसं’, कलिः वैरं, कालः कलहो वा कलुषं च पापं ततः कलिश्च कलुषं च कलिकलुषं समाहारो द्वंद्वः । च्युतं अपगतं कलिकलुषं यस्य सः तं० । पुनः किं० शान्तिम् । ‘संतिसुहपवत्तयं’ शान्तिरेव सुखं शान्तिसुखं तस्य प्रवर्तकं । अथवा शान्तिश्च सुखं च शान्ति-सुखे, तयोः प्रवर्तकं कारकं । किं वि० अहं । ‘तिगरणपयओ’, त्रिकरणैर्मनोवाक्कायरूपैः प्रयतः पूतः पुनः पुनः । किं० शान्तिम् ? महामुणिं महाश्चासौ मुनिश्च महामुनिः तं सर्वमुनिषु स्वामित्वात् ॥१८॥ ललितकं नाम छन्दः ॥

अथ सप्तदशपदव्याख्याः—‘नवसरयससी सोमगुणेहिं पावइ’ । नवश्चासौ शारदश्च शशी चन्द्रः सौम्यगुणैः शान्तिगुणैः तं शान्तिं न प्राप्नोति न अनुकरोति । शान्तेः अधिकसौम्यगुणवत्त्वात् । तथा पुनः तेषां ‘तेअगुणे-हि नवसरयरवी न तं पावइ’ नवश्चासौ शारदश्च रविः सूर्यः तेजोगुणैः तेजसः प्रभायाः गुणैः तं शान्तिं न प्राप्नोति शान्तेः अधिकतेजस्वित्वात् पुनः ‘तिअसगणवई रूवगुणेहिं तं न पावइ’ । त्रिदशा—देवास्तेषां गणः—समूहः तस्य पतिः इन्द्रः रूपगुणैः तं शान्तिं न प्राप्नोति तस्य अत्यन्ताधिकरूपत्वात् । पुनः ‘धरणिधरवई सारगुणेहिं न तं पावइ’ । धरणीधरेषु—पर्वतेषु वरः प्रधानो मेरुः सारगुणैर्बलगुणैः तं शान्तिं न प्राप्नोति तस्मादपि शान्ते-रनन्तगुणबलवत्त्वात् । खिज्जतकं नाम छन्दः ॥१७-१८॥

अथ पद्यत्रयेण श्रीअजितनाथं स्तुवन्नाह—

८

श्री पूर्वाचार्यविरचितम्

विणओणय सिररइअंजलि-रिसिगणसंथुयं थिमिअं,
 विबुहाहिबधणवइनरवइ-थुअमहिअच्चियं बहुसो ।
 अइरुगगयसरयदिवायर-समहिअसप्पभं तवसा,
 गयणंगणवियरणसमुइअचारणवंदिअं सिरसा ॥१९॥ किसलयमाला ।
 असुरगरुलपरिवंदिअं, किन्नरोरगनमंसियं ।
 देवकोडिसयसंथुअं, समणसंघपरिवंदिअं ॥२०॥ सुमुहं ॥
 अभयं अणहं अरयं अरुअं,
 अजिअं अजियं पयओ पणमे ॥२१॥ विज्जुविलसियं ॥

व्याख्या:—अहं इति शेषः । प्रयतः पूतः सन् 'अजिते'—अजितनाथं प्रणमे इत्युक्तिः । तथा पूर्वं उवणमे इत्युक्तं, इहापि प्रणमे इति उभयत्र प्राकृतत्वात् आत्मनेपदं । किं० 'अजिते' आदितो व्याख्यानयति विशेषण-पदानि । 'विणओणयसिररइअंजलिरिसिगणसंथुयं' । विनयेन अवनता विनयावनता । शिरसि—मस्तके रचितो योजितो अंजलिर्यैस्तै रचिताञ्जलयः । ततः कर्मधारयः । विनयावनताश्च शिरोरचिताञ्जलयश्च विनयावनतरचिताञ्जलयः रचिताञ्जलयश्च विनयावनतरचिताञ्जलयः । एवंविधा ये ऋषयः तेषां गणः—समूहस्तैः संस्तुतम् । पुनः किं० अजितम् ? । 'थिमिअं' निस्तरंगसमुद्रसदृशम् अशुभविकल्पसंकल्पानामभावात् । पुनः किं० अजितम् ? 'विबुहाहिबधणवइनरवइथुअमहिअच्चियं बहुसो' । विबुधाधिपा—इन्द्राः धनपतयो धनदाः उपलक्षणत्वात् शेषा लोकपालाश्च नरपतयश्चक्रवर्तिप्रमुखा राजानः, ततो द्वन्द्वः विबुधाधिपाश्च (धनपतयश्च) नरपतयश्च विबुधाधिपधनपतयनरपतयः तैः स्तुतं(वाग्भिः), महितं प्रणामादिभिः, अर्चितं पुष्पादिभिः बहुशो अनेकशः । पुनः किं० अजितम् ? 'अइरुगगयसरयदिवायरसमहिअसप्पभं' अचिरोद्गतः नवीनोद्गतो यः शरदः शरत्कालस्य दिवाकरः सूर्यः तस्मात् अधिका सती प्रधाना प्रभा यस्य स तं० । केन 'तपसा' द्वादश प्रकारेण । पुनः किं० अजितम् ? 'गगणंगणवियरणसमुइअचारणवंदिअं' । गगनांगणे—वितरणेन विचरणेन समुदिता समेता ये चारणाश्चारणश्रमणानास्तैर्वन्दितम् प्रणतं । केन 'सिरसा' मस्तकेन ॥१९॥ किसलयमालानाम छन्दः ॥ पुनः किं० अजितम् ? 'असुरगरुलपरिवंदिअं', असुरा असुरकुमारा गरुडाः सुवर्णकुमाराः, तैः परि सामस्येन वन्दितम् । पुनः किं अजितम् ? 'किन्नरोरगनमंसियं' । किन्नरैः उरगैः नागकुमारैर्महोरगैर्वा नमस्कृतं—नतम् । पुनः किं० अजितम् ? 'देवकोडिसयसंथुअं' । देवानां क्रोडिशतैः संस्तुतम् । पुनः किं० अजितम् ? 'समणसंघपरिवंदिअं' । श्रमणानां संघेन परिसामस्येन वन्दितम् । संमुखं नाम छन्दः ॥ ॥२०॥ पुनः किं० अजितम् ? 'अभयं', न विद्यते सप्तप्रकारं भयं यस्य सः तम् । पुनः किं० अजितम् ? 'अणवं', न विद्यते अणं पापं यस्य स अणवस्तम् । पुनः किं० 'अरयं', न विद्यते रजो बध्यमानं कर्म उपलक्षणत्वात् बद्धं च यस्य सः तं अजितम् । पुनः किं० अजितम् ? 'अरुअं' न विद्यते रुक् व्याधिः यस्य सः अरुक् तं अ० । पुनः किं० अजितम् ? अजितं बाह्याभ्यन्तरवैरिभिः पराभूतम् ॥ विद्युद्विलसितं नाम छन्दः ॥१९॥२०॥२१॥

अथ पद्यचतुष्टयेन श्रीशान्तिनाथं स्तुवन्नाह—

आगया वरविमाणदिव्वकण-गरहतुरयपहकरसएहिं हुलिअं ।
 ससंभमोअरणकखुभिअ-लुलिअचलकुंडलं गयतिरीडसोहंतमउलिमाला ॥२२॥
 वेङ्गओ

सतस्मरणस्तवम्

९

जं सुरसंघा सासुरसंघा, वेरविउत्ता भत्तिसुजुत्ता ।

आयरभूसियसंभमपिण्डिअ-सुट्ठुसुविम्हिअसव्वबलोघा ।

उत्तमकंचणरयणपरूविअ-भासुरभूसणभासुरिअंगा ।

गायसमोणय-भत्तिवसागय-पंजलिपेसियसीसपणामा ॥२३॥ रयणमाला ।

वंदिऊण थोऊण तो जिणं, तिगुणमेव य पुणो पयाहिणं ।

पणमिऊण य जिणं सुरासुरा, पमुइया सभवणाइं तो गया ॥२४॥ खित्तयं ॥

तं महामुणिमहंपि पंजलि, राग-दोस-भय-मोहवज्जियं ।

देवदानवनरिंदवंदिअं, संतिमुत्तमं महातवं नमे ॥२५॥ खित्तयं ॥

व्याख्या:-अहमपि तं शान्तिं 'नमे' नमामि इति चतुर्थपद्यान्ते उक्तिलापनिका । किं० शान्तिम् ? । महा-मुनिं महातपस्विनं । किं० अहं 'पंजलि' प्राञ्जली सन् । किं० शान्तिम् ? 'रागदोसभयमोहवज्जियं' रागो माया-लोभरूपः । द्वेषः क्रोधमानरूपः । भयं भीतिः, मोहो अज्ञानं । ततो द्वन्द्वे कृते रागद्वेषभयमोहास्त्वैर्वर्जितम् । पुनः किं० शान्तिम् ? 'देवदानवनरिंदवंदिअं' । देवानां दानवानां नराणां च इन्द्राः तैर्वन्दितम् । पुनः किं० शान्तिं । 'उत्तममहातवं' उत्तमं प्रधानं महच्च गुरु तपो द्वादशप्रकारं यस्य स तं उ० । तं कं ? यं प्रति सुरसंघाः आगताः वन्दनादिनिमित्तं । कैरित्याह- 'वरविमाणदिव्वकणगरहत्तुरयपहकरसएहिं' । वराणां प्रधानानां विमानानां दिव्यानां कनकमयानां रथानां तुरंगानां च पहकराः समूहास्तेषां शतैः 'हुल्लिअं' इति शीघ्रं । पुनः किं० सुरसंघाः । ससंभमोअरणक्खुमिअल्लियचलकुंडलंगयतिरीडसोहंतमउलिमालाः । ससंभ्रमं यत् अवतरणं अवपतनं तेन क्षुभिताः, तेषां क्षुभितानां सतां ललितानि चलानि पारिप्लवानि कुंडलानि च कर्णाभरणानि अंगदानि केयूराणि तिरीडाश्च तैः शोभमाना मौलीनां माला येषां ते व० ॥२२॥ वेष्टनकं नाम छन्दः । किंवि० 'सुरसंघाः' । सासुर-संघाः सह असुराणां असुरकुमाराणां संघेन समूहेन वर्तते ये ते सासुरसंघाः । पुनः किंवि० सुरा 'वेरविउत्ता' वैरेण वियुक्ता रहिताः । पुनः किं० सु० 'भत्तिसुजुत्ता,' भक्त्या सु सुष्ठु युक्ताः भक्तिसुयुक्ताः । पुनः किं० । आयरभूसिअसंभमपिण्डियसुट्ठुसुविम्हिअसव्वबलोघा । आदरेण भूषिताः संप्रमेण सचरं पिण्डिता मिलिताः सुष्ठु अत्यर्थं सुविस्मिताः विस्मयं प्राप्ताः सर्वे समस्ता बलानां अनीकानां ओघाः समूहा येषां ते आ० । अत्र कर्म-धारयगोमं बहुव्रीहिसमासाः । पुनः किं० सु० 'उत्तमकंचणरयणपरूविअभासुरभूसणभासुरिअंगा' । उत्तमं प्रधानं यत्काञ्चन-स्वर्णं यानि च रत्नानि उत्तमकाञ्चनरत्नानि तैः प्रकृष्टरूपाणि कृतानि यानि भासुराणि भूषणानि तैः भासुरितानि अंगानि येषां तानि(ते) उ० । पुनः किं० सुरा० 'गायसमोणयभत्तिवसागयपंजलिपेसिय-सीसपणामा' । गात्रेण समवनता भक्तिवशेन आगता भक्तिवशागताः । पुनः प्राञ्जलयः ततः कर्मधारयः । गात्रसमवनताश्च ते भक्तिवशागताश्चते प्राञ्जलयश्च गात्रसमवनतभक्तिवशागतप्राञ्जलयः तैः प्रेषितः शिरसा मस्तेकेन प्रणामो यैस्ते गात्र० ॥२३॥ रत्नमालानाम् छन्दः । ततस्ते सुरासुराः स्वभवनानि स्वमन्दिराणि गताः । किं० सुरासुराः प्रमुदिताः प्रमोदं प्राप्ताः । किं कृत्वा गताः ? 'वंदिऊण' वंदित्वा प्रथमं प्रणम्य, ततः 'थोऊण' स्तुत्वा वाग्भिः । ततो अनन्तरं त्रिसंख्यमेव त्रिगुणमेव च प्रकृष्टं प्रदक्षिणं कृत्वेति शेषः । ततः पुनः प्रणम्य जिनम् । खित्त(यं) क्षिप्तकं नाम छन्दः ॥२२॥२३॥२४॥२५॥

अथ पथचतुष्टयेन श्रीअजितनाथं स्तुवन्नाह-

अंबरंतरविआरिणीआहिं, ललियहंसबहुगामिणियाहिं ।

पीणसोणिधणसालीणियाहिं, सकलकमलदललोयणिआहिं ॥ २६ ॥ दीवयं ॥

१०

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

पीणनिरंतरथणभरविणमियगायलआहिं,

मणिकंचणपसिढिलमेहलसोहिअसोणितडाहिं ।

वरखिखिणिनेउरसतिलयवल्लयविभूसणिआहिं,

रइकरचउरमणोहरसुंदरवंसणियाहिं ॥ २७ ॥ चित्तफखरा ॥

देवसुंदरीहिं पायवंदियाहिं वंदिआ य जस्स ते सुविक्रमा कमा,

अप्पणो निडालएहिं मंडणोडुणप्पगारएहिं केहिं केहिं वि

अवंगतिलयपत्तलेहनामएहिं चिल्लएहिं संगयंगयाहिं,

भत्तिसन्निविट्ठवंदणागयाहिं हुंति ते वंदिया पुणो पुणो ॥ २८ ॥ नारायओ॥

तमहं जिणचंदं, अजिअं जिअमोहं ।

धुयसव्वकिलेसं, पयओ पणमामि ॥ २९ ॥ नंदिअयं ॥

व्याख्या:—तं अजितं अहं प्रयतः सावधानभूतो वा सन् प्रणमामि । अथ चतुर्थपथे प्रथमपदे उक्त्वा निष्का । किं० ‘अजितं जिणचंदं’ जिनेषु केवलसु चन्द्र इव चन्द्रः तेषु प्रधानत्वात् तं जि० । पुनः किं वि० अजितं । ‘जिअमोहं’ जितः पराभूतो मोहो अज्ञानं येन स जितमोहस्तम् । पुनः किं वि० अजितम् ? ‘धुअसव्वकिलेसं’ । धुतः कंठितः सर्वः शरीरमनसम्बन्धिक्लेशो येन सः धुतसर्वक्लेशस्तम् । तं कं ? ‘जस्स ते सुविक्रमा कमा देवसुंदरीहिं पुणो पुणो वंदिआ, ‘ते’ तव क्रमौ चरणौ देवसुंदरीभिः—देवांगनाभिः वन्दितौ । ‘पुनः’ पुनः वारंवारं क्रमौ इत्यत्र “दोवयणे बहुवयणमिति” प्राकृतबलात् द्वित्वेऽपि बहुवचनम् । कैः क्रमौ वन्दितौ इत्याह—‘अप्पणो निडालएहिं’, आत्मनः सम्बन्धिभिः ललाटकैः—मस्तकैः प्रधानललाटेः “प्रशंसायां कन् प्रत्ययः” । किं विशिष्टाभिः देवसुन्दरीभिः ? ‘अंबरंतरवियारिणिआहिं’, अंबरस्य आकाशस्य अन्तरं अंतरालं अम्बरान्तरं तस्मिन् अम्बरान्तरे विशेषेण चरितुं शीलं यासां ताः अम्बरंतरविचारणिकास्ताभिः । अत्र प्रशंसायां कन् प्रत्ययः । ‘अम्बरन्तर’ इत्यत्र ह्रस्वं प्राकृतसूत्रत्वात् । पुनः किं० देवसुंदरीभिः ? ‘ललियहंस-बहुगामिणियाहिं’ । ललितं हंसवधूवत् गन्तुं शीलाभिः । पुनः किं० देव० ? ‘पीणसोणितथणसालिणियाहिं’ । पीनाः पुष्टाः श्रोण्यश्च कट्यः स्तनाश्च पयोधराः पीनश्रोणिपयोधराः तैः शालितुं शोभितुं शीलं यासां ताः पीनश्रोणिस्तनशालिनिकास्ताभिः । सर्वत्र प्रशंसायां कन् । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । पुनः किं० देवसुंदरीभिः ? ‘सकलकमलदललोअणिआहिं’ । सकलानि—संपूर्णानि यानि कमलस्य—पद्मस्य दलानि—पत्राणि तानि इव लोचनानि यासां ताः सकलकमलदललोचनिकास्ताभिः स० । दीपकं नाम छन्दः ॥ २९ ॥ पुनः किं विशिष्टाभिः देवसुन्दरीभिः ? ‘पीणनिरंतरथणभरविणमियगायलयाहिं’ । पीना महातो निरन्तरा घनाः स्तनानां पयोधराणां ये भराः प्राग्भाराः तैः विशेषेण नता गात्रलता यासां ताः पीननिरन्तरस्तनभरविणमितगात्रलताः ताभिः पी० । पुनः किं० देवसुंदरीभिः ? ‘मणिकंचणपसिढिलमेहलसोहिअसोणितडाहिं’ । मणयश्च कांचनं च मणिकांचनानि तैः कृताः प्रशिक्षिताः प्रभृता या मेखलाः ताभिः शोभितानि शोभां प्रापितानि श्रोणीनां कटीनां तटानि यासां तां मणिकाञ्चन-प्रशिक्षितमेखलाशोभितश्रोणितटाः ताभिः म० । पुनः किं० देवसुंदरीभिः ? ‘वरखिखिणीनेउरसतिलयवल्लयविभूसणियाहिं’ । वराश्च ताः प्रधानाश्च किंकिण्यश्च क्षुद्रघण्टिकाः च नू पुराश्च वरकिंकिणीनू पुराः, तथा सह तिलकैः वर्तन्ते यानि सतिलकानि यानि बलमानि कट्टकानि सतिलकवल्लयानि तानि विशिष्टानि भूषणानि यासां ताः वरकिंकिणीनू पुरसतिलकवल्लयविभूषणिकास्ताभिः । पुनः किं० देवसुन्दरीभिः ? ‘रइकरचउरमणोहरसुंदरवंसणीयाहिं’ ।

रसिगणदेवगणे

११

रतिं क्रीडां करोति इति रतिकरं । तथा चतुराणां मनोहरतीति चतुरमनोहरं । एवंविधं सुन्दरं दर्शनं रूपं यासां ताः रतिकरचतुरमनोहरसुन्दरदर्शनिकास्ताभिः ॥२७॥ चित्राक्षरा नाम छन्दः । पुनः किंविशिष्टाभिः देवसुन्दरीभिः ? 'पायवंदियाहिं' पादौ चरणौ वन्दिकाः प्रणामिकाः पादवन्दिकास्ताभिः । पुनः किं देव० ? 'केहिं केहिं वी मंडणोड्डुणप्पगारएहिं संगयं गयाहिं' कैः कैः अतिशयरूपैः 'वी' अत्र दीर्घत्वं प्राकृतवशात् । मंडणोड्डुण-प्रकारकैः संगतांगताभिः मंडनानां यानि उड्डुनानि स्थापनानि तेषां प्रकारकैः प्रशस्तैर्विशेषैः 'प्रशंसायां कन्' । संगतानि अंगानि यासां ताः संगतांगताभिः ? किं विशिष्टैः मण्डनोड्डुणप्रकारकैः ? 'अवंगतिलयपत्तलेहनाम-एहिं' । अपांगा नेत्रप्रान्ताः, तथा तिलका विशेषकाः पत्रलेखाः प्रतीतास्ता नामानि येषां ते तैः उ० । किं० मंडनो० ? 'चिल्लएहिं' चिल्लकैः नीलैः [लीनैः] । पुनः किंविशिष्टाभिः देवसुन्दरीभिः ? 'भत्तिसंनिविट्ठवंदणा-गयाहिं' । भक्त्या संनिविष्टाः संस्थिताः भगवदभिमुख्यः तासां बन्दनं तस्मै आगताः भक्तिसंनिविष्टबन्दनागताः ताभिः ॥ नाराचनाम छन्दः ॥२८॥२९॥

अथ पद्यद्वयेन श्रीशान्तिनामं स्तुवन्नाह-

धुअवंदिअस्सा रिसिगणदेवगणेहिं तो देववह्हिं पयओ पणमिअस्सा ।

जस्स जगुत्तमसासणअस्सा, भत्तिवसागयपिंडिययाहिं ।

देववरच्छरसावहुयाहिं, सुरवररह्गुणपंडिययाहिं ॥३०॥ भासुरयं ॥

बंससहसंतितालमेलिए, तिउक्खराभिरामसहमीसए कए अ । सुइसमाणणे अ सुद्ध-सज्जगीअपायजालयंदिआहिं । वलयमेहलाकलावनेउराभिरामसहमीसए कए अ, देवनट्टिआहिं हावभावविड्ढमप्पगारएहिं । नच्चिऊण अंगहारएहिं वंदिआ य जस्स ते सुविक्कमा कमा । तयंतिल्लोयसव्वसत्तसंतिकारयं, पसंत-सव्वपावदोस-मेस हं नमामि संतिमुत्तमं जिणं ॥ ३१ ॥ नारायओ ॥

व्याख्याः—अहं 'तयं' तर्कं "प्रशंसायां कन्" शान्तिं नमामि । इति द्वितीयपद्यान्ते उक्तिः । किंवि० शान्तिं ? तिलोयसव्वसत्तसंतिकारयं । त्रिलोकस्य—त्रिभुवनस्य सर्वेषां सत्त्वानां—प्राणिनां शान्तिकारकम् । पुनः किं० शान्तिम् ? 'पसंतसव्वपावदोसं' । प्रशान्ताः क्षयं नीताः सर्वे पापदोषा येन स तं प्र० । अत्र निर्विभक्तिको निर्देशः प्राकृतत्वात् । पुनः किं० वि० शान्तिं ? 'मे सहं' मे मम सहं समर्थं सर्वपापपुण्यक्षयाय इति गम्यते । अथवा 'पसंतसव्वपावदोसं' इति विभक्तिरक्षणे एषः अहं शान्तिं नमामि इत्युक्तिरालापिका । पुनः किं० शान्तिं ? उत्तमं प्रधानं । पुनः किं० शान्तिम् ? जिमं रागद्वेषविजेतारं तर्कं कं यस्य 'ते' तव क्रमौ पादौ देवनर्त्तकीभिः वंदितौ । किं विशिष्टौ पादौ । सुविक्रमौ सुष्ठुपराक्रमौ । किं० यस्य 'रिसिगणदेवगणेहिं धुअवंदिअस्सा' । ऋषीणां गणाः ऋषिगणा देवानां गणाः देवगणास्ततो द्वन्द्वे कृते ऋषिगणदेवगणास्तैः स्तुतवन्दितस्य स्तुतश्चासौ वन्दितश्च स्तुतवन्दितस्तस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । तो ततः, 'देववह्हिं' देववधूमिः । पुनः किं० ? यस्य 'जगुत्तम-सासणयस्स' । जगतो लोकस्य जगति वा उत्तमं प्रधानशासनं दर्शनं थस्य सः जगदुत्तमशासनस्तस्य, सर्वत्र प्राकृतत्वा-दीर्घत्वम् । पुनः किं० यस्य । 'देववरच्छरसावहुआहिं' । देवानां वराप्सरस एव वरदेव्य एव वध्वो वनितास्ताभिः प्रणतकस्य । किं विशिष्टाभिः देव० । 'भत्तिवसागयपिंडियआहिं' । भक्तेर्वशेन आगताभिः स ताभिः पिण्डित-काभिर्मिलिताभिः । अत्रापि प्रशंसायां कन् । पुनः किं० दे० । 'सुरवररह्गुणपंडियआहिं' । सुराश्च वराश्च सुरवरास्तैः सह रतिरेव क्रीडैव गुणस्त्वस्मिन् पण्डितकभिः । अत्रापि प्रशंसायां कन् ॥३०॥ भासुरकं नामछन्दः ॥ देव-

१२

श्री पूर्वाचार्यविरचितम्

नर्त्तकीभिः किं कृत्वा पादौ वन्दितौ? 'नच्चिऊण' नर्त्तयित्वा नाटकं कृत्वा कैः नर्त्तयित्वा अंगहारकैः अंगविक्षेपादिभिः। प्रशंसायां कन्। किंविशिष्टैः अंगहारकैः हावभावविभ्रमप्रकारकैः हावभावविभ्रमाणां प्रकारो येषु ते हावभावभ्रमप्रकारकास्तैः हा०। प्रशंसायां सर्वत्र कन्। अत्र हावा-मुखविकाराः भावा अभिप्रायाः विभ्रमा-विलासाः। कुत्र नर्त्तयित्वा नर्त्तकीभिः पादौ वन्दितौ इत्याह गीतनृत्य इति विशेष्यं गम्यं सूत्रांतर्वर्तीनि तु सर्वाणि विशेषणानि ज्ञेयानि। किंविशिष्टे गीतनृत्ये? 'वंससद्वतंति-तालमेलिए'। वंशस्य शब्दो वंशशब्दः, तन्त्री वीणा, तालश्च पटहादेः शब्दः। ततो द्वन्द्वे कृते वंश-शब्दतन्त्रीतालास्तैर्मिलिते मिलिते। पुनः किं० गीतनृत्ये? 'तिउक्खराभिरामसद्दमीसए कए'। त्रिपुष्करस्य अभिरामेण रमणीयेन शब्देन ध्वनिना मिश्रिते संयुक्ते कृते विहिते। त्रिपुष्करं किमुच्यते? दर्दुरटमुरजसंबन्धे भवति। कथं दर्दुरटस्य एकं मुखं भवति। मुरजस्य तु मुखद्वयं भवति। तत्र मुखत्रये मिलिते त्रिपुष्करं स्यात्। पुनः किं० गीतनृत्ये च? 'सुइसमाणणे' श्रुतीनां श्रवणानां समानानां करणेन सर्वशब्दोपलब्धिषु समीकरणेन च कृते। किं० गीत०? 'सुद्धसज्जगीअपायजालघंटिआहिं'। शुद्धसज्जगीतं च पादेषु समुदायतो जाला-कृतयः किंकणिका जालघंटिकाश्च ताभिः उपलक्षिते सति सामर्थ्याद् गम्यं। पुनः किं० गीत०? 'वल्यमेहलाक-लावनेउराभिरामसद्दमीसए कए' य। च पुनः। वलयानि कटकानि, मेखला-रसना, कलापा अलंकारविशेषाः, नूपुराणि तुलाकोटयः। ततो वलयाश्च मेखलाश्च कलापाश्च नूपुराश्च वलयमेखलाकलापनूपुरास्तेषां अभिरामो रमणीयो यः शब्दो ध्वनिस्तेन मिश्रिते संयुक्ते कृते ॥३१॥ नाराचकनाम छन्दः॥ इदं गाथाद्वयं मया कथंचित् कष्टेन व्याख्यातमस्ति। अतः आर्षवाक्यत्वात् विशेष्यविशेषणविभक्तिवचनादीनां तादृगवबोधो न जातः परं विद्वत्तैर्यथा सम्यक् व्याख्यानं भवति तथा कार्यं। नाराचकनाम छन्दः ॥३१॥

अथ संलभमेव अजितशान्तियुगलं पद्यत्रयेण स्तुवन्नाह—

छत्तचामरपडागजूअजवमंडिआ, झयवरमगरतुरयसिरिबच्छसुलंछणा।

दीवसमुहमंदरदिसागयसोहिया,

सत्थिअवसहसीहसिरिबच्छसुलंछणा ॥३२॥ ललिअयं ॥

सहावलट्टा समप्पइट्टा, अदोसतुट्टा गुणेहिं जिट्टा।

पसायसिट्टा तवेण पुट्टा, सिरीहिं इट्टा रिसीहिं जुट्टा ॥३३॥ बाणवासिया ॥

ते तवेण धुयसव्वपावया, सव्वलोअहिअमूलपावया।

संथुआ अजिअसंतिपायया, हुंतु मे सिवसुहाण दायया ॥३४॥ अपरान्तिका ॥

व्याख्याः—ते अजिअसंतिपायया संथुआ मे सिवसुहाण दायया हुंतु इत्युक्तिः। ते पूर्वोक्ताः अजित-शान्त्योः प्रशस्ताः पादाः पादकाः "प्रशंसायां कन्"। अथवा—अजितशान्ति पादकामका 'मे' मम स्तोत्रकर्तुः संस्तुताः सन्तः शिवसुखदायका भवन्तु। शिवस्य—मोक्षस्य सम्बन्धिसुखं शिवसुखं तस्य दायका दातारः भवन्तु। किं० अजितशान्तिपादकाः? 'छत्तचामरपडागजूअजवमंडिआ'। छत्रं आतपत्रं। चामरं प्रसिद्धम्। पताका वैजयन्ती। यूपः प्रसिद्धः। यवोऽपि प्रसिद्धः। ततो द्वंद्वसमासे कृते छत्रचामरपताकायूप-यवास्तैरैक्षणैर्मण्डिता विभूषिताः। पुनः किं अ०? 'झयवरमगरतुरयसिरिबच्छसुलंछणा'। ध्वजः प्रसिद्धः। स चासौ वरश्च प्राकृतवान्न विशेषणस्य पूर्वनिपातः। अथवा वरश्चासौ मकरश्च प्रसिद्धः, तुरगो अश्वः, श्री-वृक्षं वक्षस्थले श्रीवत्सः, ततो द्वंद्वे कृते ध्वजवरमकरश्रीवत्सानि सुलान्छनानि शोभनलक्षणानि येषां ते ध्व०।

सप्तस्मरणस्तवम्

१३

पुनः किं अजि० ? 'दीवसमुद्गमंदरदिसागयसोहिआ' । द्वीपा-जम्बूद्वीपादयः समुद्रा लवणसमुद्रादयः, मंदिरा गृहाणि प्रासादाश्च । दिग्माजाः प्रधानहस्तिनः, अष्टासु दिक्षु ये भवन्ति । ततो द्रन्द्वे कृते द्वीपसमुद्रम-न्दिरदिग्माजास्तैः लक्षणैः शोभिता विराजिताः । पुनः किं० अजितं ? 'सत्थियवसहसीहसिरिवच्छसुलंछणा' । स्वस्तिकः प्रसिद्धः । वृषभो-अनङ्गवान् । सिंहो-मृगराजः । श्रीः लक्ष्मीः, वृक्षस्तुरः । ततो द्रन्द्वे कृते स्वस्तिकवृषभसिंहश्रीवृक्षाः सुलंछनानि शोभनानि लक्षणानि येषां ते स० ॥३२॥ ललितकं नाम छन्दः । पुनः किं० अ० अजितशान्तिपादकाः । 'सहावलङ्गा' स्वभावेन लप्याः शोभनाः स्वाभावलङ्गाः । पुनः किं० अ० ? 'समप्पइट्ठा' समा प्रैतिष्ठा प्रतिष्ठितिः येषां ते समप्रतिष्ठाः । पुनः किं० अ० । 'अदोसदुट्ठा' । द्वैषैः राग-द्वेषमोहैः दुष्ट्या दोषदुष्ट्या । न दोषदुष्ट्या अदोषदुष्ट्याः । पुनः किं० अ० ? 'गुणेहिं जिट्ठा' । गुणैः सम्यक् ज्ञानदर्शनचारित्र्यैर्ज्येष्ठाः । प्रशस्यतमा वृद्धतमा वा । पुनः किं० अ० ? 'पसायसिट्ठा' प्रसादेन रागादिवि-गमनेन-लक्षणेन श्रेष्ठाः प्रसादश्रेष्ठाः । पुनः किं० अ० 'तवेन पुट्ठा' तपसा द्वादश प्रकारेण पुष्टा भृताः । पुनः किं० ? 'सिरीहिं इट्ठा' श्रियो लक्ष्म्या शोभाया वा इष्ट्याः । पुनः किं० अ० ? 'रिसीहिं जुट्ठा' । ऋषिभि-स्तपस्विभिर्जुष्ट्या सेविताः ॥३३॥ वाणवासियानाम छन्दः ॥ पुनः किं० अ० ? 'तवेण धुअसव्वपावया' । तपसा द्वादशप्रकारेण धूतं सर्वं पापकं यैस्ते तपसा धूतसर्वपापकर्मकाः । पुनः किं० अ० 'सव्वलोअहिअमूलपावया, सर्वलोकस्य हितस्य मूलानि आगामिभद्राणि सम्यक् ज्ञानदर्शनचारित्र्याणि तेषां प्रापकाः लभकाः सर्वलोक-हितमूलप्रापकाः ॥३४॥ अपरान्तिकानाम छन्दः ॥

अथ अजितशान्तियुगलं स्तुवन् नन्दिषेणः उपसंहारमाह—

एवं तवबलविउलं, थुअं मए अजिअसंतिजिणजुअलं ।

ववगयकम्मरयमलं, गइं गयं सासयं विमलं ॥३५॥ गाथा ॥

व्याख्याः—नन्दिषेणो बक्ति, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण 'मए' मया अजितशान्तियुगलं स्तुतं अजितशान्ति-जिनयोर्युगलं-युग्मं-अजितशान्तियुगलं । किं विशिष्टं तद् युगलं-तपोबलेन तपसः सामर्थ्येन विपुलं विशालं किं० अजितशान्तियुगलम् ? 'ववगयकम्मरयमलं' । व्यपगतं कर्म च ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं रजश्च बध्यमानं, मलं च बद्धं कर्म यस्य यस्माद्वा व्यपगतकर्मरजोमलम् । पुनः किं० अ० ? 'सासयं गइं गयं' शाश्वतीं गतिं मोक्षरूपां गतं प्राप्तम् । किं० गतिम् ? 'विमलं' विगतपूर्वसंचितकर्ममलम् । अथवा विपुलं पाठान्तरे । तत्र विस्तीर्णसुखरूपतया ॥३५॥ गाथानाम छन्दः ॥

अथ पुनरपि नन्दिषेणः प्रार्थनापूर्वं तदेव युगलं स्तुवन्नाह—

तं बहुगुणप्पसायं, सुखसुहेण परमेण अविसायं ।

नासेउ मे विसायं, कुणउ अ परिसावि य प्पसायं ॥ गाथा ॥३६॥

व्याख्याः—तत् अजितशान्तियुगलं 'मे' मम विषादं नाशयतु । च पुनः मोक्षसुखेन परमेण प्रधानेन अविसायं अवैकल्यं करोतु । च पुनः परिषदपि श्रोत्री प्रसादं अनुग्रहं करोतु । किं० तत् 'बहुगुणप्पसायं' । बहूनां गुणानां ज्ञानदर्शनचारित्र्याणां प्रसादो रागादिभिः मलव्यपायो यस्य तत् । अथवा बहुगुणो विपुलोपकारः प्रसादो वैमल्यं च यस्य तत् बहुगुणप्रसादम् गाथा इयं ॥३६॥

अथ नन्दिषेणः प्रार्थनां कुर्वन्नाह—

तं मोएउ अ नंदिं, पाबेउ अ नंदिसेणमभिर्नंदिं ।

परिसावि य सुहंनंदिं, मम प विसउ संजमे नंदिं ॥३७॥ गाथा ॥

१४

श्रीपूर्वाचार्यविजयितम्

व्याख्या:—तत् अजितशान्तियुगलं मोदयतु हर्षयतु । च पुनः नन्दिं समृद्धिं प्रापयतु । पुनर्नन्दिषेणं स्तोत्रकर्तारं श्रेणिकपुत्रं अन्यं वा न तद् विद्मः । अभिनन्दिं अभि सामस्येन समृद्धिं प्रापयतु । पुनरेतज्जिनयुगलं परिषदोऽपि सुखं नन्दिं स्वर्गसमृद्धिं दिशतु । पुनर्मम संयमे सप्तदशप्रकारे नन्दिं समृद्धिं दिशतु ॥३६॥ गाथेयम्॥

तथा अत्र गोविन्दाचार्येण अजितशान्तिस्तवस्य षट्त्रिंशद्वाधानामेव वृत्तिः कृतास्ति । परं प्रवर्तमानं गमभाद्रयं केनाभिप्रायेण न व्याख्यातम् । परं मया तद्विवरणं क्रियते ।

षक्खिअ चाउम्मासे, संवच्छरिए राइए अ दिअहे अ ।

सोअव्वो सव्वेहिं, उवसग्गनिवारणो एसो ॥३८॥

व्याख्या:—एषः श्रीअजितशान्तिस्तवः उपसर्गनिवारणोऽस्ति । अतः सर्वैः श्रोतव्यः क्व पाक्षिके—पर्वणि च पुनः चातुर्मासिकपर्वणि पुनः संवत्सरपर्वणि रात्रौ दिवसे च ॥३८॥

अथ एतस्य पठने श्रवणे च फलमाह—

जो पढइ जो य निसुणइ, उभओकालंपि अजियसंतिथयं ।

न हु हुंति तस्स रोगा, पुब्बुप्पन्ना विनासं[ति]तु ॥३९॥

व्याख्या:—यः सो कोऽपि अजितशान्तिस्तवं पठति । च पुनः । निश्चिणोति नितरां अतिशयेन शृणोति उभयकालं अपि तस्य रोगा 'नहु' नैव भवन्ति । अपि पुनः पूर्वोत्पन्ना अपि नश्यन्ति ॥३९॥

आर्षत्वादुर्बोधा विभक्तिर्लिगादिशुद्धिरेव तस्मिन् । शब्दार्थवैपरीत्यं कृतं कुधैः शोधनीयं तत् ॥१॥

इति वृत्तिरजितशान्तिस्तवस्य विहिताय शिष्याणां । गणिसमयसुन्दरेण प्रवाच्यतामास्तवं यावत् ॥२॥

इति श्रीअजितशान्तिस्तववृत्तिः समाप्तिमागात् ॥

द्वितीयस्मरणं ।

सप्तस्मरणसूत्रस्य, द्वितीयस्य करोत्यथ । टीकामजितशान्त्यो—स्तद्वणिः समयसुन्दरः ॥१॥

संविभसूरिशिरोरत्नसमानाः श्रीखरतरगच्छाधिराजाः श्रीजिनवल्लभसूरयः श्रीसंघस्य श्रेयस्करं विशेषतः पाक्षिकादि पर्येषु वाच्यं सप्तदशवृत्तप्रमाणं श्रीअजितशान्तिस्तवनं चिकीर्षवः प्रथमं उल्लेखालंकारसारं शार्दूल-विक्रीडितछन्दसा वृत्तमाह—

उल्लासिकमनक्खनिगयपहादंडच्छलेणंगिणं,

वंदारुण दिसंत इव्व पयडं निव्वाणमग्गावलिं ।

कुंदिंदुज्जलदंतकंतिमिसओ नीहं(णं)त नाणंकुरु-

क्वेरे दोवि दुविज्जसोलसजिणे थोसामि खेमंकरे ॥१॥

व्याख्या:—अहमिति शेषः । 'दोवि दुविज्जसोलसजिणे थोसामि' । द्वौ अपि द्वितीयषोडशजिनौ अजितशान्तितीर्थेकरौ स्तोत्र्यामि कीर्तयिष्यामि । किं० द्वौ । क्षेमंकरौ, श्रेयःकर्तारौ । किं कुर्वन्तौ द्वि० । अंगिनां प्राणिनां निर्वाणमार्गावलिं इव उपेक्षते । दिसंतौ प्रतिपादयन्तौ निर्वाणमार्गाणां आवलिः श्रेणिः निर्वाणमार्गावलिस्तां नि० । किं विशिष्टानां अंगिनां ? 'वन्दारुण' वन्दनशीलानां नमस्कारं कुर्वन्तौ प्रकटं स्पष्टं । केन इत्याह— 'उल्लासिकमनक्खनिगयपहादंडच्छलेणंगिणं' । उल्लासिनः ऊर्ध्वमुखं गच्छन्तो ये क्रमाणां पादानां नख-निर्गतप्रभादण्डाः नखेभ्यो निर्गता आः प्रभाः फान्तमस्तासां दण्डाः नखनिर्गतप्रभादण्डाः संमिलितकान्तिवि-

सप्तस्मरणस्तवम्

३५

स्ताराः तेषां कलं व्याजस्तेम उल्लासिकमनखनिर्गतप्रभादण्डच्छलं तेम उ० । अन्योऽपि यौ मार्गं दर्शयति सः तस्य अमिमुखं दण्डादिकं व्यापार्य दर्शयति । एवं भगवतां अपि ऊर्ध्वोत्थसत्यदनखकिरणदण्डौ प्रणामं कुर्वतः प्रति मुक्तिमार्गं ऊर्ध्ववर्तमानं दर्शयतः । पुनः किं० विशिष्टौ द्वि० । 'नीहं(णं)तनाणंकुरु' ज्ञानस्य अङ्कुरा ज्ञानाङ्कुराः तेषां उत्करः समूहः ज्ञानाङ्कुरोत्करः निर्यन् निर्गच्छन् चासौ ज्ञानाङ्कुरोत्करश्च निर्यत् ज्ञानाङ्कुरोत्करो यक्षाभ्यां तौ नि० । कस्मात् ? कुन्देदूज्वलदन्तकान्तिमिषतः । कुन्दं माध्यं इन्दुश्चन्द्रः तयोरिव उज्वलाः शुभ्रा—ये दन्ताः तेषां कान्तिः प्रभा तस्या मिषं व्याजः तस्मात् कुन्देदूज्वलदन्तकान्तिमिषतः । एतेन भगवतो ज्ञानक्षेत्रत्वं उक्तम् ॥१॥

अथ श्रीजिनवल्लभसूरिः भगवत्स्तुतौ असामर्थ्यं दर्शयन्नाह—

चरमजलहिनीरं जो मिणिज्जंजलीहिं, खयसमयसमीरं जो जिणिज्जा गईए ।

सयलनहयलं वा लंघए जो पएहिं, अजियमह व संतिं सो समत्थो थुणेउं ॥२॥

व्याख्याः—सः अजितं द्वितीयं जिनं, अथवा इति समुच्चये । शान्तिं षोडशं जिनं 'थुणेउं' स्तोतुं समर्थः स्यात् । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् । सः कः यः एतत् त्रयं कर्तुं समर्थो भवति । किं तत् त्रयमित्याह—यः 'चरमजल-हिनीरं', स्वयंभूरमणसमुद्रपानीयं अञ्जलीभिः प्रस्तुतिभिः मिनुयात् । एतावत् प्रमाणं अस्यास्ति इति कुर्यात् । पुनर्यः 'क्षयसमयसमीरं' प्रलयकालवातं । कया—गत्या पादक्रमणेन जयेत् । क्षयसमयस्य क्षयकालस्य यः समीरः क्षयसमयसमीरस्तं अन्योपि वातो गत्या जेतुं न शक्यते किं पुनः क्षयसमयसमीरः २ । पुनर्यः सकलनभस्तलं—सर्वाकाशमण्डलं पादाभ्यां लंघयेत् ३ । अयं भावः—न केनापि यथा एतत् त्रयं कर्तुं शक्यते, तथा भगवत्स्तुतिं कर्तुमपि न केनापि शक्यते इत्यर्थः ॥२॥

ननु यदि भगवत्स्तुतिकरणे सामर्थ्याभावोऽदर्शितस्तदा कथं स्तुतिकरणमारब्धं इत्याह—

तहवि हु बहुमाणुल्लासिभक्तिभरेण, गुणकणमवि किंतिहामि चिंतामणिव्व ।

अलमहव अचिंताणंतसामत्थओ सिं, फलिहइ लहु सव्वं वंछिअं निच्छियं मे ॥३॥

व्याख्याः—यद्यपि भगवतः एकोऽपि गुणः सामस्त्येन वर्णयितुं न शक्यते, तथापि अहं श्रीअजितशान्ति-तीर्थंकरयोरिति शेषः । 'गुणकणमपि' गुणानां कणः गुणकणस्तं गुणकणं गुणलेशमपि कीर्तयिष्यामि । केन 'बहुमाणुल्लासिभक्तिभरेण' । बहुमानं आन्तरप्रीतिविशेषस्तेनोल्लासिनी प्रवर्धमाना या वा भक्तिः शिरोनमनाञ्ज-लिबन्धादिरूपा तस्या भरः प्राग्भारस्तेन बहुमानोल्लासिभक्तिभरेण न तु गुणलेशः स्तवनेन, स किं भविष्यतीत्याह— 'चिंतामणिमिव' चिंतामणिसदृशं । यथा स्वल्पोऽपि चिन्तामणिः स्तुतः सन् सर्वसमीहितं पूरयति, तथा भगवद्गुणलेशोऽपि इत्यर्थः । अथवा 'अलं' स्रुतं एतन्मम प्रारब्धं सेतुस्यति न वेति विचारेण इति गम्यते । कुतः ? इत्याह—'फलिष्यति' संपत्स्यते मम वाञ्छितं 'सर्वं' समस्तं आस्तां स्तवकरणमात्रं अन्यदपि सेतुस्यतीति ॥ 'लघु' शीघ्रं, निश्चितं निःसंदेहं कस्मात् अचिन्त्यानन्तसामर्थ्यतः अचिंत्यं चिंतयितुं अशक्यं यत् अनंतं सामर्थ्यं प्रभावः अचिंत्यानंतसामर्थ्यं तस्मात् अचिंत्यानंतसामर्थ्यात् कयोरित्याह 'सिं' इति तयोः अजितशान्तिजिनयोः । अत्र इदम् शब्दस्य षष्ठीबहुवचने सिं इति आदेशः तत्सूत्रं तु प्राकृतव्याकरणे द्रष्टव्यम् ॥३॥

अथ स्तोत्रकर्ता भगवन्नाममात्रस्यापि प्रभावातिशयं दर्शयन्नाह—भगवत्प्रणामं कुर्वन्नाह—

सयलजयहिआणं, नाममित्तेण जाणं, बिहइ लहु हुड्डाणिद्वयोद्वयहं ।

नभिरसुरकिरीडुगिघट्टपायारंदिं, सययमजिअसंती ते जिनंदे भिषंदे ॥४॥

१६

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

व्याख्या—अहमिति शेषः । तौ अजितशान्ती सततं अभिवन्दे सर्वोदरेण स्तुवे । किं विशिष्टौ अजितशान्ती ? नभिरसुकिरीडुषिष्टपायारविन्दे नम्राः नमनशीला ये सुरा वैमानिकादयः तेषां किरीटानि मुकुटानि तैः उद्गृष्टे उचेजिते पादारविन्दे चरणकमले ययोस्तौ । तौ कौ जाणं इति ययोर्नाममात्रेण गृहीतेनेति शेषः । ‘दुष्टाणिद्वदोषद्वष्टं लहु विहडइ’ । दुष्टानि दुःखदायीनि, अनिष्टानि प्रियविप्रयोगादीनि तान्येव ‘दोषद्वष्ट’ हस्तिनः तेषां ‘घट्टः’ समूहः दुष्टानिद्वदोषद्वष्टं, प्राकृतत्वान्नपुंसकता ‘लहुं’ शीघ्रं विघटते, जाणं इत्यत्र प्राकृतत्वात् द्विवचने बहुवचनं । किं विशिष्टौ यौ ययोः सकलजगत्हितयो सकलस्य जगतः हितौ हितकारकौ सकलजगद्धितौ तयोः स० ॥४॥

अथ ग्रन्थकारः भगवतोः चरणभक्तिप्रभावं दर्शयन्नाह—

पसरइ वरकित्ती वड्डए देहवित्ती, विलसइ भुवि मित्ती जायए सुप्पवित्ती ।

फुरइ परमत्तित्ती होइ संसार छित्ती, जिणजुअपयभत्ती ही अचित्तीरुसत्ती ॥५॥

व्याख्या—‘हि’ इति आश्चर्ये । ‘जिनजुअपयभत्ती’ अचित्तीरुसत्ती वर्तते इति इति शेषः । ‘जिनयोः’ अजितशान्त्योः ‘युगं’ युगं तस्य पादास्तेषां भक्तिरान्तरप्रीतिः अचित्तीरुशक्तिः अचिन्त्या चिन्तयितुं अशक्या उर्वी गरिष्ठा शक्तिः सामर्थ्यं प्रभावो यस्यासौ सा अचित्तीरुशक्तिः कथं ज्ञायते जिनपदभक्तिः अचित्तीरुशक्तिः वर्तते । तत्राह—यत्प्रभावात् एतत् पदकं भवति तत्किं इत्याह—‘जिनयुगपादभक्ति’ इति सर्वत्र गम्यं । वरकीर्तिः प्रधानयशः प्रसरति विस्तारं गच्छति १ । पुनः ‘देहदीप्तिः’ शरीरकान्तिर्वर्धते २ । पुनः भुवि पृथिव्यां मैत्रीप्राप्तिः विलसति ३ । पुनः सुप्रवृत्तिर्जायते ४ । पुनः परमवृत्तिः परमसन्तोषः स्फुरति उल्लसति ५ । पुनः संसारछिन्तिः भवच्छेदो भवति ६ ॥५॥

अथवा देवांगानां विषये नृत्यपूजाप्रतिपादनद्वारेण स्तुतिमाह—

ललिअपयपयारं भूरिदिव्यंगहारं, फुडघणरसभावो—दारसिंगारसारं ।

अणिमिसरमणिज्जइंसणच्छेअ भीआ, इव पणमणमंदा कासी नट्टोवहारं ॥६॥

व्याख्या—अत्र अग्रेतनगाथास्थं ‘युणह अजिअसंती’ इति तच्छब्दप्रधानं वाक्यं संबध्यते । ततश्च भो भव्या यूयमिति शेषः । तौ अजितशान्ती यूयं स्तुत वर्णयतः, यत्तदोनित्याभिसम्बन्धात् । तौ कौ ? जइंसणच्छेअभीया इव पणमणमन्दा अणिमिसरमणी कासि नट्टोवहारं इति सम्बन्धः । ‘अणिमिसरमणी नट्टोवहारं कासि’, अनिमिषाः देवास्तेषां रमण्यः स्त्रियः नृत्येन निवर्तनेन उपहारः पूजानृत्योपहारस्तं अकार्षुः कृतवन्तः रमणी इत्यत्र प्राकृतत्वात् विभक्तिलोपः । किं विशिष्टा रमण्यः ? प्रणमणमंदाः प्रणमने नीचैर्नमने मन्दा अलसाः । किं नर्तक्यः ? प्रायः संमुखं अवलोकयन्त्य एव नृत्यं कुर्वन्तीति स्वभावः । ततः कविना उत्प्रेक्षते स्वभावतो न प्रणमनमन्दा । किन्तु यद्दर्शनच्छेदभीता इव ययोर्दर्शनं यद्दर्शनं अजितशान्त्योः अवलोकनं भवशतेष्वपि दुःप्रापं तस्य छेदः अन्तरायस्ततो भीता इव चकिता इव, भूयोऽपि दुर्लभं भगवत्दर्शनं इति तदन्तरायं प्रणामकालभविनमपि असह इत्यर्थः । किं विशिष्टं नृत्योपहारम् ? ललितपदप्रचारं ललिता रमणीयाः पदानां प्रचारा चरणानां न्यासा यत्र तं ल० । पुनः विशिष्टं नृत्योपहारणम् ‘भूरि दिव्यंगहारं’ भूरयः—प्रभूता दिव्या—परमोत्कृष्टा—‘अंगहार’ अंगविक्षेपा यत्र स तं भू० ॥ पुनः किं विशिष्टं नृत्योपहारं ? स्फुटरसघनभावोदारशृंगारसारं । स्फुटो व्यक्तः प्रकटः घनः सान्द्रः योजसौ रसः शृंगारः भावो रतिः । ततः स्फुटघनरसभावौ ताभ्यां उदारो योजसौ शृंगारो विभूषाप्रकारस्तेन सारः प्रधानः तं स्फुट० । भावशृंगारस्साभ्यां बन्धुरमित्यर्थः ॥६॥

सतस्मरणस्तवम्

१७

अथ भगवतोः वर्णवर्णनापूर्वं स्तुतिमाह—

धुणह अजियसंति ते कयासेससंती, कणयरयपिसंगा छज्जए जाण मुत्ती ।**सरभसपरिरंभारंभिनिव्वाणलच्छी, घणधणधुसिणंकुप्पंकपिंगीकयव्व ॥७॥**

व्याख्या—भो भव्याः, यूयमिति शेषः । तौ अजितशान्ती स्तुत इत्युक्तिः । किंविशिष्टौ अजितशान्ती ? कृताशेषशान्ती, कृता-विहिता अशेषा—समस्ता शान्तिः शिवं याभ्यां तौ कृताशेषशान्ती तौ कृ० । तौ कौ ययोः अजितशान्त्योः मूर्तिः तनुः ‘छज्जए’ राजते । राजिधातोः प्राकृते छज्जादेशः कथितोऽस्ति । किं विशिष्टा मूर्तिः ? ‘कणयरयपिसंगा’ कनकस्य रजः—चूर्णं तद्वत् पिसंगा पीता इत्यर्थः । भगवतो मूर्तिः स्वभावेन पीता वर्तते परं कविना उत्प्रेक्षा क्रियते । स्वभावतो न पीता किन्तु सरभसपरिरंभारंभिनिर्वाणलक्ष्मीधनस्तनघुसृणांकोत्पंकपिंगी कृता इव सरभसं सौलुक्यं यथा भवति, एवं यः परिरंभः—आलिंगनं, तं आरभते—करोतीत्येवंशीला सरभस-परिरंभारंभिणी, सा चासौ निर्वाणलक्ष्मीश्च मुक्तिनायिका तस्या घनौ पीनौ स्तनी तयोः योऽसौ घुसृणांकः—कुंकुमविभूषा तस्य उत्कृष्टः पङ्को द्रवस्तेन पिंगीकृता इव पिंजरिता इव, किल नायिकाः सक्रामाः शृंगारकारिण्यः नवयौवने निजस्तनकनककलसयोः कुंकुमेन मंडनं कुर्वति । ततो यदा गाढानुरागेण प्रियतमस्य आलिंगनं कुर्वते तदा तत्स्तनमंडनेन तस्य प्रियस्यापि पीतं भवति । भगवतोरपि मुक्तेर्वधूत्वेन आलिंगनं संभाव्य एवं उत्प्रेक्षाकरणम् ॥७॥

अथ स्याद्वादोपदेशद्वारेण भगवतोः स्तुतिं कुर्वन्माह—

बहुविहनयभंगं वत्थु णिच्चं अणिच्चं, सदसदणभिलप्पालप्पमेगं अणेगं ।**इय कुनयविरुद्धं सुप्पसिद्धं च जेसिं, वयणमवयणिज्जं ते जिणे संभराभि ॥८॥**

व्याख्या—अहमिति शेषः । तौ अजितशान्तिजिनौ संस्मरामि । तौ कौ ? ‘जेसिं’ ययोः वचनं ईदृशं वर्तते । किंविशिष्टं ? ‘अवयणिज्जं’ अवचनीयं विरोधाऽभावाद् अशक्यदोषोद्भावनम् । पुनः किंविशिष्टं वचनं ? ‘बहुविहनयभंगं’, बहुविधा नयानां नैगम १ संग्रह २ व्यवहार ३ ऋजुसूत्र ४ शब्द ५ समभिरूढ ६ एवं-भूत ७ नानां सप्तानां भंगाः प्रकाराः अभिप्रायविशेषविकल्पा यत्र तत् बहुविधनयभंगं सर्वेनयविषयधर्मात्मकमित्यर्थः । किंविशिष्टं वचनं ? ‘इति कुनयविरुद्धं’ इति एवं प्रकारेण कुत्सिता नया कुनयाः मतविशेषास्तेषां विरुद्धं—असमंजसतया प्रतिभासमानमितीति । कथं कुनयाश्रिता मिथ्यादृष्टयः ? ते हि एवं मन्यन्ते प्ररूपयन्ति च । तथाहि—एकमेव वस्तु सदात्मकमेवेति सांख्याः १ । एकमेव वस्तु असदात्मकमेवेति माध्यमिकाः २ । नित्यमेव एकमेवेति सांख्याः ३ । अनित्यमेव अनेकमेवेति बौद्धाः ४ । अभिलाष्यमेवेति वैयाकरणाः ५ । अनभिलाष्यमेवेति बौद्धैकदेशाः ६ ॥ एते सर्वेऽपि एकान्तवादिन इति हेतौ कुनयाः । तीर्थंकरस्तु एकं वस्तु अनंतधर्मात्मकं मन्यते प्रतिपादयति च । पुनः किंविशिष्टं वचनम् ? ‘सुप्पसिद्धं’ सुगममेतत् । एतस्य वृत्त-स्यार्थो अतीव दुरधिगम्योऽस्ति तीक्ष्णमतिभिः सम्यक् वाच्यः । सप्तनयानां स्वरूपं तु सिद्धान्ततोऽवसेयम् ॥८॥

अथ भगवतोः ध्यानप्रभावं दर्शयन् स्तुतिमाह—

पसरह तिअलोए ताव मोहं [धंकरं] धयारं,**भमइ जयमसन्नं ताव मिच्छत्तच्छन्नं ।****फुरइ फुडफलं ताणंतानाणंसुपूरो,****पयइमजियसंतीझाणसूरो न जाव ॥९॥**

स० ३

१८

श्री पूर्वाचार्यविरचितम्

व्याख्या—‘तावत्’ तावन्तं कालं मोहान्धकारं प्रसरति । मोह एव पुत्रमित्रकलत्रादिषु स्नेह एव मोहनीयं कर्म वा अंधकारः मोहान्धकारः प्रसरति व्याप्तिं करोति १ । पुनः तावत् जगत् सुवनं असन्नं असंज्ञं भ्रमति विपरीतं प्रवर्तते, न विद्यते संज्ञा धर्माधर्मादिविशिष्टविज्ञानरूपाः यस्मिन् तत् असंज्ञं । किंविशिष्टं जगत् ‘मिच्छतल्लभं’ मिथ्यात्वेन लभम् आच्छादितं मिथ्यात्वल्लभं । तावत् किं यावत् इत्याह—‘अजितसंतीज्ञान-सूरो जाव न फुरइ’ अजितशान्त्योर्ध्यानमेव शुक्लध्यानमेव सूरः सूर्यः यावन्न प्रकटं स्फुरति, न उदेति उदयं करोति । किंवि० अजितशान्तिध्यानसूरः ‘फुडफलंताणंतनाणंसुपूरो’ ‘स्फुटं’ व्यक्तं फलत् उल्लसत् अनन्तज्ञानमेव केवलज्ञानमेव अंशूनां किरणानां पूरः समूहो यस्य सः स्फुटफलदनन्तज्ञानांशुपूरः । अयं फलितार्थः—त्रैलोक्ये महान्धकारं तावत्प्रसरति, पुनः जगत् असंज्ञं मिथ्यात्वल्लभं सत् तावत् भ्रमति यावदजितशान्तिध्यानसूर्यो न स्फुरति । तस्मिन् स्फुरति एतद्द्वयमपि न स्यादित्यर्थः ॥९॥

अथ भगवतोः वर्णनामाहात्म्यमाह—

**अरि-करि-हरि-तिण्हु-पहं-बु-चोरा-हि-वाही, समर-डमर-मारी-रुह-खुदोवसग्गा ।
पलयमजियसंती किच्छे झत्ति जंती, निबिडतरतमोहा भक्खरालुंखिभव्व ॥**

व्याख्या—अजितशान्तिर्कीर्तने सति अरिहरितृष्णोष्णांबुचौराधिव्याधिसमरडमरमारीरौद्रक्षुद्रोपसर्गाः प्रलयं यान्ति । ‘झत्ति’ इति शीघ्रं क्षयं गच्छन्ति, अरयः शत्रवः १ करिणो हस्तिनः २ हरयः सिंहाः ३ तृष्णा पिपासा ४ उष्ण—आतपः ५ अम्बु—जलं ६ चौरास्तस्कराः ७ आधयो—मनोजनितपीडाविशेषाः । व्याधयो—ज्वरभगंद-रादयः समरः—संग्रामः डमरो—राजकृतोपद्रवः । मारी—कुपितपिशाचादिकृतप्राणिक्षयः, रौद्रक्षुद्रोपसर्गाः भयानकक्रूरशयव्यन्तरादिकृतोपद्रवाः । तत एतेषां पदानां इतरेतरद्वन्द्वः समासः कार्यः । अत्रोपमानमाह—क इव प्रलयं यान्ति ‘निबिडतरतमओघा इव’ अतिनिबिडतरं अतिगाढं यत्तमोऽन्धकारं तस्य ओघाः समूहाः निबिडतरतमओघाः । किंविशिष्टा नि० ? ‘भक्खरालुंखिभव्व’ भास्करेण सूर्येण ‘आलुंखिताः’ स्पृष्टाः भास्करालुंखिताः । अत्र स्पृष्टधातोः “कासेति सूत्रेण आलुंखादेशः” [पृ-१७६] स अत्र इव शब्दो विशेषेण पदादग्रे न्यस्तोपि विशेष्यपदात्परो योज्यः ॥१०॥

अथ भगवतो रूपस्थध्यानद्वारेण स्तुतिमाह—

**निचिअदुरिअदारुदित्तज्ञाणगिगजाला,
परिगयमिव गोरं चिंतिअं जाण रुवं ।
कणयनिहसरेहाकंतिचोरं करिज्जा,
चिरथिरमिह लच्छिं गाढसंथंभियव्व ॥११॥**

व्याख्या—ययोः अजितशान्तितीर्थकरयोः रूपं चिन्तितं ध्यातं सत्, इह जगति लक्ष्मीं कुर्यात् । पुनः किंविशिष्टां लक्ष्मीम् ? चिरस्थिरां-चिरकालं निश्चलाम्, कामिव ? गाढं संस्तमितां इव, गाढं अत्यर्थं संस्तमितां सम्यक् नियन्त्रितां इव । यथा पाञ्चालिका नाराचादिना गाढं नियन्त्रिता सती चिरं स्थिरा भवति, एवं ययो रूपध्यानात् लक्ष्मीः स्थिरा भवतीत्यर्थः । किंविशिष्टं रूपं ? कनकनिकषरेखाकान्तिकचौरम् । कनकस्य स्वर्णस्य निकषः कषपट्टः तत्र तस्य वारेखा तस्याः कान्तिः द्युतिस्तां चोरयति—अनुकरोति यत्र तत् क० । अत्र गौरत्वे उत्प्रेक्षामाह । इवोत्प्रेक्षते—‘निचिअदुरिअदारुदित्तज्ञाणगिगजालपरिगयं’ निचितानि अनेकभवशतसहस्रेषु सं-

सप्तस्मरणस्तवम्-

१९

चित्तानि उपार्जितानि यानि दुरितान्येव दुष्कृतान्येव दारूणि काष्ठानि तैः उद्दीप्तैः उज्ज्वालितो यो ध्यानाग्निः
तस्य ज्वाला तथा परितः-व्याप्तं, काकुवचनं कार्यम् ॥११॥

अथ पुनर्भगवतोऽध्यानस्य फलदर्शनद्वारेण स्तुतिमाह-

**अडविनिवडियाणं पत्थिवुत्तासिआणं,
जलहिलहरिहीरंताण गुत्तिट्ठिआणं ।
जलिअजलणजालालिंगियाणं च झ्माणं,
जणयइ लहु संतीं संतिनाहाजियाणं ॥१२॥**

व्याख्या-शान्तिनाथाजितयोर्ध्यानं-संस्मरणं ध्यानकारकाणामिति अर्थात्-गम्यं 'लहु' शीघ्रं 'शांति' शिवं जनयति-करोति । किंविशिष्टानां ध्यानकारकाणां ? 'अटवीनिपतितानां' अटवी-अरण्ये सार्धं अष्टादिकारणात् निपतितानां-संस्थितानां । पुनः केषांचित् ध्यानकारकाणां पार्थिवोत्तासितानां पार्थिवैः स्वकीयपरकीयनृपैः उत्तासितानां मापितानाम् । पुनः केषांचित् ध्यानकारकाणां जलधिलहरिद्विषमाणानां प्रवहणे भग्ने सति समुद्रान्तःपाते सति समुद्रकलोलैरितस्ततः प्रेथमाणानां । पुनः केषांचित् 'गुप्तिस्थितानां' गुप्तौ कारागारे स्थितानां प्रक्षिप्तानां । पुनः केषांचित् तेषां ज्वलितज्वलनज्वालालिंगितानां ज्वलितश्वासौ दीप्यमानश्वासौ ज्वलनो दावानलः-दवाग्निः तस्य ज्वालास्ताभिः आलिङ्गिताः व्याप्तास्तेषां । अत्र अल्पस्वरत्वेन पूर्वं अजितशब्दोच्चारणं घटते परं छन्दोभंगमयात् अनुप्रासकारणाच्च पूर्वं शान्तिपदोच्चारणं ततो न दोषः ॥१२॥

अथ भगवतोः साम्राज्यपरित्यागचारित्रांगीकारवर्णनां कुर्वन् प्रार्थनामाह-

**हरि-करि-परिकिण्णं पक्कपाइकपुणं, सयलपुहविरज्जं छड्डिं आणसज्जं ।
तणमिव पडलमं जे जिणा मुत्तिमग्गं, चरणमणुपवन्ना हुंनु ते मे पसन्ना ॥१३॥**

व्याख्या:-'तौ जिनौ' अजितशान्तिनाथौ 'मे' मम प्रसन्नौ प्रसादपरौ भवताम् । तौ कौ यौ जिनौ 'चरणं' चारित्रं 'अनुप्रपन्नौ'-अंगीकृतवन्तौ । किंविशिष्टं चरणं ? 'मुक्तिमार्गं' मुक्तौ मुक्तिपत्तने मार्ग इव मुक्तिमार्गः चारित्रमेव हि मुक्तिगमने मार्गः । कुतः ? 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्युक्तत्वात् । किं कृत्वा चरणं अनुप्रपन्नौ ? सकलपृथिवीराज्यं छर्दित्वा-परित्यज्य । किंविशिष्टं राज्यं ? 'हरिकरिपरिकीर्णं' हरयो-अथा बाल्हीकादिदेशोद्भवाः, 'करिणो' भद्रजातीयादिहस्तिनः, तैः परिसंमतात् कीर्णं व्याप्तं । पुनः किंविशिष्टं राज्यम् ? 'पक्कपदातिपूर्णं', पक्काः रिपुनिग्रहसमर्थाः 'पदातयः' पत्तयः तैः पूर्णं युक्तं । पुनः किंविशिष्टं राज्यं ? 'आणसज्जं' । आज्ञायां आदेशे सज्जं प्रगुणं राज्यम् । किमिव त्यक्तं इत्याह-तृणमिव । किंविशिष्टं तृणं ? पटलमं, पटे लमं पटलमं । यथा वल्लभं तृणं आच्छोद्यते तथा राज्यमपि त्यक्तम् ॥१३॥

अधुना देवांगनावन्दनाद्वारेण भगवतोः स्तुतिमाह-

**छणससिवयणाहिं फुल्लनीलप्पलाहिं, थणभरनमिरीहिं मुट्ठिगिज्झोदरीहिं ।
ललिअभुयलयाहिं पीणसोणित्थलीहिं, सयसुररमणीहिं वंदिआ जेसि पाया ॥**

व्याख्या:-'हुन्तु ते मे प्रसन्ना' इति वाक्यं पूर्ववृत्तस्थं अत्रापि संबध्यते । ततो अत्रापि इयं उक्तिः । तौ अजितशान्ति मम प्रसन्नौ भवताम् । तौ कौ ? 'जेसि' ययोः अजितशान्तयोः पादाश्चरणाः सुररमणीभिः-क्षणशशिवदनाभिः क्षणः पूर्णिमापूर्वं तस्य शशी-चन्द्रः तद्वत् मुखं यासां ताः क्षणशशिवदनास्ताभिः क्षणः । पुनः किंविशिष्टाभिः सुररमणीभिः ? फुल्लनेत्रोत्पलाभिः नेत्राभ्येव उत्पलानि नयनकमलानि निर्नि-

(सुररमणीभिः=पृ. १९-३१ अतोऽपे-) देवाङ्गनाभिः वन्दिताः, सुराणां-वैमानिकादिदेवानां रमण्यः सुररमण्यस्ताभिः सुररमणीभिः सदा । किंविशिष्टाभिः सुररमणीभिः ? (यावत् 'क्षण शशिवदनाभिः')

२०

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

मेघत्वेन सदा विकस्वराणि नेत्रोत्पलानि यासां ताः फुल्लने०, स्ताभिः । पुनः किंविशिष्टाभिः सुररमणीभिः स्तनभरनम्राभिः, स्तनयोः कुचयोर्भरः प्राग्भारो गुरुत्वं तेन नता नम्रास्ताभि स्तन० । अत्र “शीलाद्यर्थस्यैरः” (प्रा. २।१४५ पृ. ७७) अनेन शीलाद्यर्थस्यैरप्रत्ययस्य इरादेशः । पुनः किं० सुररमणीभिः ? मुष्टिप्राङ्गोदरीभिः मुष्टिना प्राङ्गं उदरं यासां ता मुष्टिप्राङ्गोदरास्ताभिः । पुनः किं० सुर० ? ललितभुजलताभिः, ललिते—मनोहरे भुजलते ययोस्ता ललितभुजलतास्ताभिः । पुनः किं० सुर० ? पीनश्रोणिस्थलीभिः, पीना उपचिता श्रोणि-स्थली—कटितटी यासां ताः पीनश्रोणिस्थलीभिः, लतास्थली शब्दौ शोभावचनौ ॥१४॥

अथ मोक्षहेतोः संयमस्य विन्नरूपा ये रोगास्तेषां अपहारं प्रार्थयन्नाह—

अरिसकिडिभकुट्टगंगठिकासाइसार-क्खयजरवण-त्तुआ-साससोसोदराणि ।

नह-मुह-दसणच्छीकुच्छिकन्नाहरोगे, मह जिणजुअपाया सुप्पसाया हरंतु ॥१५॥

व्याख्या—‘जिनजुगपादाः’ मम एतान् रोगान् हरन्तु । जिनयोः—अजितशान्त्योर्युगं—युगं तस्य पादाश्च-रणाः जिनयुगपादाः । किंविशिष्टाः पादाः ? सप्रसादाः—प्रसत्तिरहितः । ते के रोगा इत्याह—अर्शो गुदा-कुरः १ । ‘किडिभो’ जंघाचरणसंधिभावी रोगविशेषः २ ‘कुट्टं’ त्वक्विकारो रोगविशेषः ३ । ग्रन्थिवर्तारक्तोद्भवो मांसोपचयः ४ । कासः ५ अतिसारश्च एतौ द्वौ प्रसिद्धौ ६ । क्षयो धातोरपचयः ७ । ज्वरस्तापः ८ । व्रणो—गण्डो अष्टाविंशतिभेदभिन्नः ९ । लता दुष्टस्फोटिका १० श्वासः—श्वासातिरेकः ११ शोषः कंठौष्ठता-ल्वादिशोषः १२ । उदरं—उदररोगो जलोदरादिः १३ । अत्रेतरेतरसमासकरणे अर्शः किडिभकुट्टग्रन्थिकासा-तिसारक्षयज्वरव्रणलताश्वासशोषोदराणि इति तानि । पुनः—नखमुखदशनाक्षिकुक्षिकर्णादिरोगान् हरन्तु । नखाश्च मुखं च दशनाश्च अक्षिणी च कुक्षिश्च कर्णौ च नखमुखदशनाक्षिकुक्षिकर्णाः, ते आदिर्येषां ते नख-मुखदशनाक्षिकुक्षिकर्णादयः, तेषां रोगाः नख० कर्णादिरोगास्तान् । अत्र नखा नखराः । मुखं वदनं । दशना-दन्ताः । अक्षिणी—नेत्रे । कुक्षिर्जठरं । कर्णौ—श्रोत्रे ॥१५॥

अथ इदं स्तोत्रं सर्वश्रेयस्करं सर्वविघ्नहरं अतो भो भव्या अस्मिन् स्तोत्रे पठनपाठनश्रवणश्रावणादिना यूयं प्रवर्तध्वं इति भव्यान् प्रति आह—

इय गुरुदुहतासे पक्खिए चाउमासे जिणवरदुगथुत्तं वच्छरे वा पवित्तं ।

पढह सुणह सिझाएह झाएह चित्ते, कुणह मुणह विगयं जेण घाएह सिगयं ॥१६॥

व्याख्या—भो भव्याः यूयमिति शेषः । इदं जिनवरद्विकस्तोत्रं पठत पट्टिकादौ लिखित्वा अधीत १ जिन-वरयोः—श्रीअजितशान्त्योर्द्विकं युगं जिनवरद्विकं, तस्य स्तोत्रं स्वतनं जिनवरद्विकस्तोत्रं, पुनर्यूयं शृणुत सूत्रतो-ऽर्थतश्च कथ्यमानं आकर्णयत २ । पुनर्यूयं स्वाध्यायतो विकथात्यागौन गुणयत ३ । पुनर्यूयं ध्यायत पदार्थादि चिन्तनेन स्मरत ४ । पुनर्यूयं मनसि कुरुत आर्द्ररौद्रध्यानपरिहारेण विधत्त ५ । पुनः यूयं मुणह तत्त्वार्थतो जानीत ६ । कस्मिन् प्रस्तावे विशेषेण इदं पठनीयं इत्याह—‘पक्षे’ भवं पाक्षिकं तस्मिन् पाक्षिकपर्वणि इत्यर्थः । पुनः चतुर्मासेषु भवं चातुर्मासिकं । पुनः वत्सरे—पर्युषणापर्वणि इत्यर्थः । ‘वा’ समुच्चये । किं विशिष्टं पाक्षिके चातुर्मासिके संवत्सरे वा पर्वणि, गुरुदुःखत्रासे गुरुदुःखानि—अनेकभवोपार्जितानि असातानि तानि—त्रासयति नाशयतीति दुःखत्रासं तस्मिन् । एतत् स्तोत्रपठने हेतुमाह—येन स्तोत्रपठनादिना कारणेन यूयं विघ्नं धातयत विनाशयत कथं शीघ्रं श्रुति पठनानन्तरमेव इत्यर्थः ॥१६॥

सप्तस्मरणस्तवम्

अथ स्तोत्रं समर्थयन् प्रार्थनां कुर्वन्नाह—

इय विजयाजियसत्तुपुत्त ! सिरिभजियजिणेसर !

तह अइराविससेणतणय ! पंचमचक्कीसर ! ।

तित्थंकर ! सोलसम संतिजिण ! वल्लह ! संथुअं

कुरु मंगल मम हरसु दुरिअमखिलं पि थुणंतह ॥१७॥

व्याख्या—हे अजितजिनेश्वर ! त्वमिति शेषः । मंगलं कुरु केषां इति पूर्वोक्तप्रकारेण स्तवतां—स्तवनं पठताम् । पुनः त्वं 'अखिलं' समस्तं मम दुरितं अपहर इत्युक्तिः । हे विजयाजिसत्तुपुत्त ! विजया राज्ञी माता जितसत्तुनामा पिता तयोः पुत्र विजयाजितसत्तुपुत्रस्तस्य सम्बोधनं हे वि० । तथैव हे शान्तिजिन ! त्वमपि मंगलं कुरु । पुनस्तवतां दुरितं अपहर । हे अचिराविश्वसेनतनय ! अचिरा राज्ञी माता विश्वसेनो राजा पिता तयोस्तनयः पुत्र अचिराविश्वसेनतनयस्तस्य सम्बोधनं हे अ० । पुनः पंचमचक्कीसर हे तीर्थंकर ! हे षोडशम ! हे वल्लभ ! केषां सतां—साधूनां । अत्र "जिनवल्लभ" इति पदेन स्तोत्रकर्ता श्रीजिनवल्लभसूरिणा भग्यन्तरेण स्वनाम सूचितम् । अत्र स्तोत्रे श्रीअजितनाथश्रीशान्तिनाथयोर्नामदाने एव सार्थके महाप्रभावो ज्ञातव्यः । तथा यद्यपि भगवन्तः सर्वेऽपि विजयहेतवः श्रेयोहेतवश्च, तथापि विशेषतो विजयः शान्तिश्च एताभ्यां श्रीअजितशान्तिभ्यामेव चक्रे, इति हेतोरेव संलग्नयोः पाक्षिकादिपर्वणि स्तोत्रं अभिधीयते । न च एतत्(पठनं) वचनं स्वाभिप्रायेण प्रोक्तं, किन्तु श्रीमहावीरशिष्यश्रीनन्दिषेणमहाकपिणापि विशेषतः पाक्षिकादिपर्वणि वाच्यं श्रीअजितशान्तिनाथयोः स्तवनं कृतमस्ति । अतः कारणात् तस्य अनुक्रमं अनुवर्तमानः श्रीजिनवल्लभसूरिरपि तथैव संलग्नं स्तुतिं चकार । अत्र स्तोत्रे प्रथमवृत्ते शार्दूलविक्रीडितछन्दः । ततो वृत्त-पञ्चदशके मालिनीछन्दः । अन्तिमे च वृत्ते द्विपदीछन्दः । अत्र तु मया शिष्यबोधार्थं सुगमं शब्दार्थविवरणं उक्किलापनपूर्वकं कृतमस्ति, विस्तारार्थिना तु श्रीधर्मतिलकमुनिविरचिता वृत्तिर्विलोकनीया ।

श्रीउल्लासिक्रमस्तोत्रवृत्तिं समयसुन्दरः । चक्रे स्वपरशिष्याणां शीघ्रं संबोधहेतवे ॥१॥

तृतीयस्तवम्

नमिऊण स्तवस्याथ तृतीयस्मरणस्य वै । विदधातितरां वृत्तिं गणिः समयसुन्दरः ॥१॥

तत्र प्रथमं श्रीमान्तुंगसूरिः शिष्टसंकेतपालनार्थं विघ्नविनाशाय मंगलाचरणपूर्वकं श्रीपार्श्वनाथस्तवनं प्र-स्तावनागाथाभाह—

नमिऊण पणयसुरगण—चूडामणिकिरणरंजियं मुणिणो ।

चलणजुयलं महाभय—पणासणं संथवं [वो] वुच्छं ॥१॥

व्याख्या—अहमिति शेषः । 'मुणिणो संथवं वुच्छं' इत्युक्तिः मन्यते जानाति जगतस्त्रिकालवस्थामिति मुनिः प्रस्तावात् सर्वज्ञः, श्रीपार्श्वनाथः, तस्य मुनेः संस्तवं स्तोत्रं 'वुच्छं' इति वक्ष्ये भणिष्यामि । किं कृत्वा ? अग्रे पञ्चमगाथायां 'पासजिणचलणजुयलं' इति वक्ष्यमाणत्वात् श्रीपार्श्वनाथस्य 'चरणजुयलं नमिऊण'—चरण-जुगलं चरणकमलयुग्मं प्रणम्य मनोवाक्कायैः प्रकर्षेण नत्वा । किंविशिष्टं 'चरणजुगलं' प्रणतसुरगणचूडामणि-किरणरंजियं । प्रणता ये सुरगणाः देवसमूहास्तेषां 'चूडाः' शिखाः तासु मणयो रत्नानि तेषां किरणैः रंजितं—प्र० । तत्—किंविशिष्टं संस्तवं महाभयप्रणाशनं महान्ति च यानि भयानि महाभयानि तानि प्रकर्षेण आधिक्येन नाशयति स्फोटयति महाभयप्रणाशनं तं महाभयप्रणाशनं । अत्र कर्तरि अनङ् प्रत्ययः ॥१॥

अथ श्रीमानतुंगसुरिः श्रीपार्श्वनाथस्य रोगभयापहारिता-लक्षणं माहात्म्यं वर्णयन् गाथा युगलमाह-

सडिय-कर-चरण-नह-मुह-निबुड्डनासा विवण्णलावण्णा ।

कुट्टमहारोगानल-फुल्लिगनिदड्डुसव्वंगा ॥२॥

ते तुह चळणाराहण-सलिलंजलिसेयवुड्डियच्छाया ।

वणदवदड्डा गिरिपा-यव व्व पत्ता पुणो लच्छि ॥३॥

व्याख्या:-हे श्रीपार्श्व! ये पुरुषाः सडिअकरचरणादिरोगवन्तोऽपि प्राणिनः स्युः तेऽपि पुरुषाः पुनः लक्ष्मीं प्राप्ताः इत्युक्तिः । किंविशिष्टा ? ये पुरुषाः 'सडिअकरचरणनहमुहनिबुड्डनासा' करौ च हस्तौ, चरणौ च पादौ, नखाश्च प्रसिद्धाः, मुखं च वदनं, तेषां प्राण्यगत्वात् द्वन्द्वे कृते करचरणनखमुखं शटितं बहन् पूयरसं करचरणनखमुखं येषां ते शटितकरचरणनखमुखाः । तथा 'निबुड्डा' निमग्ना निविष्टा नासा नासिका येषां ते निबुड्डनासाः । ततो विशेषेण कर्मधारयः शटितकरचरणनखमुखाश्च ते निमग्नानासाश्च श० । पुनः किंविशिष्टा ये पुरुषाः ? 'विवण्णलावण्णा', विपन्नं विवर्णं वा लावण्यं लवणिमा येषां ते विपन्नलावण्याः । पुनः किंविशिष्टा ये पुरुषाः ? 'कुट्टमहारोगानलस्फुल्लिगनिदग्धसर्वांगाः' कुट्टं गलत्कुट्टादिभेदमिन्नं तदेव यो महारोगः रसायनैः सूर्यादिदैवतैश्च निवर्तयितुं अशक्यत्वात् । गरीयान् व्याधिविशेषः स संतापजनकत्वात् 'अनल इव' अग्निरिव उपमेयं व्याघ्राद्यैः सामान्यानुक्ताविति समासे कृते कुट्टमहारोगानलः तस्य स्फुल्लिगा अग्निकणाः पीडोद्भवप्रकारास्तैर्निर्दग्धानि गाढं प्लघानि सर्वाणि अंगानि देहावयवा येषां ते कु० । पुनः किंविशिष्टास्ते पुरुषाः ? 'तुह-चळणाराहणसलिलंजलिसेयवुड्डियच्छाहा' । तव चरणाराधनसलिलांजलिबोधितच्छायाः चरणयोः आराधना सेवा सा एव सलिलांजलिः जलपरिपूरितः कुब्जितपाणिद्वयरूपो हस्तन्यासविशेषः तेन सेकः सेचनं तेन वर्धिता-वृद्धिं नीता छाया-शोभा येषां ते० । केचित् पुनः "वड्डिउच्छाहा" इति पाठं पठन्ति । तत्र पुरुषपक्षे उत्साहः प्रतिक्षणं पाटवोद्भवः, वृक्षपक्षेषु उत्साहं किसलयादिक्रमेण उद्भवा अभिमुख्यं इति, एवंविधाः सतः पुनर्लक्ष्मीं प्राप्ताः । तत्र उपमानमाह-के इव गिरिपादपा इव पर्वतवृक्षा इव । किंविशिष्टा गिरिपादपाः ? 'वणदवदड्डा' वनस्य दवो दावाग्निस्तेन दग्धा वनदवदग्धाः यथा पर्वतवृक्षाः दावाग्निदग्धा अपि जलांजलिभिः सेच्यमानाः पुनरपि लक्ष्मीं शाखाप्रशाखापत्रपुष्पफलादिसमृद्धिं प्राप्नुवन्ति । तथा शटितकरचरणादिकुट्टादिरोगग्रस्तदेहा अपि पुरुषाः तव चरणाराधनाप्रभावात् पुनर्नवतां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ननु दवशब्देन वनवह्निरेवोच्यते । किमर्थं वनशब्दप्रयोग इत्युच्यते-सत्यं परमत्र वनशब्दः दवेन सह सम्बन्धातिशयसंख्यापठनार्थः । यथा कर्णवतंसशिरःशेखरादयः । ननु सिद्धान्ते सलिलानलादीन् षोडशभयानि प्रोक्तानि । अत्र तु 'रोगजलजलणेति' गाथायां अष्टावेव भयानि उक्तानि तत् कथं ? उच्यते यद्यपि अष्टौ उक्तानि ततो अन्यानि एतेष्वेवं अष्टसु यथासंभवं अन्तर्भवनीयानि । पुनः प्राह शिष्यः-ननु पूर्वं उद्देशस्ततो निर्देशः इति शास्त्रन्यायः । अत्र तु पूर्वं सडिअकरचरणेति गाथायां निर्देश उक्तः पश्चात्तु रोगा जलजलणेति गाथायां वक्ष्यमाणायं उद्देशः । तत्कथं घटते ? उच्यते-नायं नियमो यः पूर्वं उद्देशस्ततो निर्देशः । इयं तु शास्त्रशैली वर्तते परं अन्यथापि दृश्यते । श्रीमानतुंगसुरिणा "भक्तामरस्तोत्रेऽपि" पूर्वं श्रियोत्तमदाविलेत्यादि (३४) गाथानामष्टकेन पूर्वं निर्देशः कृतः, पश्चात्तु 'भक्तद्विपेन्द्रेत्यादि' (४३) काव्ये उद्देशः कृत इति ॥२॥३॥

अथ गाथायुगलेन जलभयापहारमाह-

दुव्वायवुभियजलनिहि-उवभडकल्लोलभीसणारावे ।

संभंतभयविसंदुल-निउजामयमुक्कवावरि ॥४॥

सप्तस्मरणस्तवम्

२३

अविदलियजाणवत्ता, खणेण पार्वति इच्छियं कूलं ।

पासजिणचलणजुयलं, निच्चं चिअ जे नमंति नरा ॥५॥ युगमम् ॥

व्याख्या:—ये नरा: 'पार्श्वजिनचरणयुगलं' नमन्ति ते एवंविधा: सन्तोऽपि क्षणेन घटिकाखण्डमात्रेण, हेतौ अत्र तृतीया, 'इप्सितं'—वाञ्छितं कूलं—तटं प्राप्नुवन्ति प्रकर्षेण लभन्ते । 'चिअ' शब्दस्य अवधारणत्वात् नित्यमेव अश्रान्तमेव । अथवा एवं व्याख्या कार्या । पार्श्वजिनचलणयुगलं पार्श्वनाथपादुके निच्चं इति नीत्वा आत्मना सह वहनं आरोप्य 'अचिअत्ति' अर्चयित्वा—पूजयित्वा गन्धादिभिः पूजयित्वा ये नमन्ति इति व्याख्येयम् । किंविशिष्टा ये इप्सितं कूलं प्राप्नुवन्ति इत्याह—'दुव्यायखुभियजलनिहिं, अविदलियजाणवत्ता,' दुष्टो वातो दुर्वातः कलिकावातादिस्तेन क्षुभिते जलनिधौ—समुद्रे विशेषणविशेष्यभावाच्च सप्तमीलोपः प्राकृतत्वात् । पुनः किंविशिष्टे जलनिधौ ? 'उद्धटकल्लोभीषणारावे', उद्धटाः उत्कटा ये कल्लोलाः लहरीः तेषां संबन्धी भीषणः कर्णयोर्दुःसहत्वात् भयंकरः आरावः शब्दो यस्मिन् सः उद्धटकल्लोभीषणारावस्तस्मिन् । अथवा एवं व्याख्या:—उद्धटकल्लोलैर्भीषण आरावो यस्मिन् स तस्मिन् । पुनः किं विशिष्टे जलनिधौ ? संभ्रान्तभयविसंस्थुल-नियामकमुक्तव्यापारे । संभ्रान्ताः किर्तव्यतामूढाः यतो भयविसंस्थुलाः मरणान्तिकं प्राप्ता नियामकाः पोत-वाहकास्तैर्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारः पोतवाहनादिकर्तव्यं यत्र सः संभ्रान्तभयविसंस्थुलनियामकमुक्तव्यापारस्तस्मिन् । अथवा एवं व्याख्या । शं च सुखं भा दीप्तिः शंभे तयोः अंतः समाप्तिः यत्र तत् संभ्रान्तं यद्भयं तेन विसंस्थुला ये नियामकास्तैर्मुक्तव्यापारे इति । किंविशिष्टास्ते ? अविदलितयानपात्राः । न विदलितं न भंगं आपन्नं, भगवत्प्रणाममाहात्म्यात् यानपात्रं येषां ते अविदलितयानपात्राः ॥४—५॥

साम्प्रतं अभिभयापहारमाह—

खरपवणुद्धुअवणदव, जालावलिमिलियसयलदुमगहणे ।

डज्झंतमुद्धमियवहूभीसणरवभीसणंमि वणे ॥६॥

जगगुरुणो कमजुअलं, निव्वाविअसयलतिहुयणाभोअं ।

जे संभरंति मणुआ, न कुणह जलणो भयं तेसिं ॥७॥

व्याख्या:—'ज्वलनो' वह्निस्तेषां भगवत्संस्मरणकारकाणां भयं न करोति, कुत्र स्थाने इत्याह—'वने'—अरण्ये, केषां ये मनुष्याः जगद्गुरोः श्रीपार्श्वनाथस्य 'क्रमयुगलं'—चरणकमलद्वयं संस्मरन्ति सम्यक् अनुच्य-यन्ति । किंविशिष्टं क्रमयुगलं ? निर्वापितसकलत्रिभुवनभोगं । 'निर्वापितो' नाशं प्रापितः 'सकलः' समस्तः 'त्रिभु-वनाभोगः' त्रिजगत्प्रविस्तारप्रपंचो येन तत् नि० । तद् अन्येऽपि ये केचन 'कं' पानीयं निर्वापितसकल-त्रिभुवनभोगं, सम्यक् भरन्ति पूरयन्ति घटादिभिः, तत्र बहौ तत् क्षिपन्ति तेषां ज्वलनो भयं न करोतीत्यर्थः । किंविशिष्टं कं ? अयुगलं "युजि समाधौ धातुः" योजनं युक् समाधिः । तथा च हैमे व्याकरणे उदाहरणं युजमापन्ना मुनयः । न युक् अयुक् असमाधिस्तं अलं निवारयति अयुगलं स्वास्थ्यसंपादकमित्यर्थः । किंविशिष्टे वने ? खरपवणुद्धुअवणदवजालावलिमिलियसयलदुमगहणं । खरः—प्रचण्डः पवनो—वायुः तेन उद्धूतः इतस्ततो विस्तारितो यो वणदवो—दावानलः तस्य ज्वाला—अर्चिषः तासां आवलिस्तस्या संमिलितानि सकलानि समस्तानि सर्वजातीयानि 'दुमगहनानि' वृक्षकाननानि तानि यस्मिन् तत् खर० । कचित् "जालावलिमिलिअत्ति" पाठः । तत्र ज्वालावलिभिर्मिर्दितानि दह्यमानत्वादिति योज्यं । पुनः किंविशिष्टे वने ? 'डज्झंतमुद्धमियवहूभीसणर-वभीसणंमि' । दह्यमाणाश्च ता मुग्धा अबलत्वेन अपसरणपरिज्ञानविकला मुगवध्वो हरिष्यस्तासां यो भीषणो

६४

श्रीपूर्वाचार्यविरचितम्

भैरवो रवः आक्रन्दध्वनिः तेन भियं भयं श्रोतॄणां सनोति ददाति इति भीसनं भयप्रदं तस्मिन् । अथवा दह्यमाना मुग्धा मृगाः आरण्याः पशवः तेषां बहुः विस्तीर्णो यो भीषणो रव आर्तस्वरः कोलाहलस्तेन भीसनं भयप्रदं तस्मिन् ॥६-७॥

अथ गाथायुगलेन सर्पभयापहारं आह—

विलसंत भोगभीसण-फुरियारुणनयणतरलजीहालं ।

उग्गभुजंगं नवजलय-सत्थहं भीसणायारं ॥८॥

मन्नंति कीडसरिसं दूरपरिच्छुदविसमविसवेगा ।

तुह नामक्खरफुडसिद्धमंतगुरुआ नरा लोए ॥९॥ युग्मम् ॥

व्याख्या:—हे श्रीपार्श्वनाथ ! एवंविधा ये नरा लोके एवंविधमपि 'उग्रभुजंगं'—दुष्टसर्प कीटसदृशं कीटेन गोमयकीटादि तथाविधनिर्विषकीटकतुल्यं मन्यते इत्युक्तिः । किंविशिष्टाः नराः ? 'तुह नामक्खरफुडसिद्धमन्तगुरुआ' । 'तव' भवतः यानि श्रीपार्श्वनाथेति नामाक्षराणि तान्येव स्फुटः प्रकटप्रभावः सिद्धानां जांगुल्यादिविद्यानां सम्बन्धी यो मन्त्रो गारुडादिसिद्धमन्त्रो द्वादशाक्षरी प्रमुखः तेन गुरवः एव गुरुकाः नामाक्षरस्फुटसिद्धमन्त्रगुरुकाः । पुनः किंविशिष्टाः नराः ? 'दूरपरिच्छुदविसमविसवेगा' ? 'दूरं' अत्यर्थं परि—सामस्त्येन 'च्छुदः' क्षिप्तः दूरीकृतो विषमो दुस्सहो विषमवेगो लहरीप्रसरो यैस्ते दूरपरिच्छुदविसमउग्राविषवेगाः । त्वन्नाममन्त्रजापमाहात्म्यात्तस्य भुजंगस्य विषमोऽपि विषवेगो दूरीकृतस्तैरिति फलितार्थः । किंविशिष्टं भुजंगविलसितं 'भोगभीसणफुरियारुणनयणतरलजीहालं' । विलसन् भोगः शरीरं यस्य स विलसद्भोगः । अथवा विलसन्तो भोगाः फणा यस्य सः विलसद्भोगः । "भोगो हि कायफणयोरिति" वचनात् । पुनः न विद्यते भीर्भयं यत्र तत् अभिर्भयं यत् ईषणं दर्शनं अभीषणं । इषधातोः गति, हिंसा २ दर्शनेषु ३ धातुपाठे उक्तत्वात् । तस्मै अभीषणाय स्फुरिति परिस्पन्दवती अरुणे आरक्तं नयने नेत्रे यस्य सः । अभीषणस्फुरितारुणनयनः । पुनः तरले लपलपायमाने जिह्व—रसने यस्य सः तरलजिह्वालः ततः कर्मधारयः । विलसद्भोगश्चासौ अभीषणस्फुरितारुणनयनश्चासौ तरलजिह्वालश्च विलसद्भोगभीषणस्फुरितारुणनयनजिह्वालः तं वि० । 'जिह्वालेति' प्राप्यंगत्वात् इति मत्वर्थीयो लः प्रत्ययः । अथवा तरलजिह्वाभ्यां सकाशात् अलमनर्थो लोकानां यस्मात् स तरलजिह्वालः । पुनः किंविशिष्टं 'उग्रभुजंगं नवजलयसत्थहं' । नवश्चासौ जलदो मेघो नवजलदः तेन 'सत्थहं' इति देशीवचनात् सदृशं तद्वत् श्यामवर्णमित्यर्थः । पुनः किंविशिष्टं उग्रभुजंगं 'भीसणायारं' भीषणो भयंकरः आकार आकृतिर्यस्य सः भीषणाकारस्तं । अथवा भीषणः आ—समंतात् चारः इतस्ततश्चलनरूपो व्यवहारः यस्य स भीषणाचारस्तम् ॥८-९॥

अथ चोराभियापहारमाह—

अडवीसु भिल्ल-तक्कर-पुल्लिंद-सद्दूलसद्भीमासु ।

भयविहलवुन्नकायर-उल्लूरीयपहिअसत्थासु ॥१०॥

अविल्लुत्तविहवसारा तुह नाह पणाममत्तवावारा ।

ववगयविग्घा सिग्घं पत्ता हि अ इच्छिअं ठाणं ॥११॥

व्याख्या:—हे नाथ ! 'तुह पणाममत्तवावारा अडवीसु अविल्लुत्तविहवसारा इच्छियं ठाणं सिंघं पत्ता' 'तव' भवतः (भावतः) प्रणामश्च प्रणिपातः केवलं प्रणामः प्रणाममात्रं स एव व्यापारः कर्तव्यं येषां ते तव

सप्तस्मरणस्तवः ।

६५

प्रणाममात्रव्यापारः मनुष्याः शीघ्रं हितं मनसा ईप्सितं यत्स्थानं पदं प्राप्ताः । किंविशिष्टाः मनुष्याः ? 'अविलुप्त-विभवसारा' अविलुप्तविभवसाराः, विलुप्तं मुषितं विभवसारं उत्कृष्टधनं येषां ते विलुप्तविभवसाराः । अथवा विलुप्तो विभव एव सारो बलं येषां ते विलुप्तविभवसाराः । न विलुप्तविभवसारा अविलुप्तविभवसाराः । पुनः किंविशिष्टाः ? व्यपगतविघ्नाः, व्यपगताः विघ्नाः शत्रुकृतप्रहारादिका येभ्यो येषां वा ते व्यपगतविघ्नाः, न केवलं भगवत्प्रणाममाहा-स्यात् धनस्यैव रक्षा भवति, किन्तु शत्रुकृतप्रहारादिकमपि न तेषु प्रभवति इत्यर्थः । कासु ? अटवीषु-अरण्येषु । किंविशिष्टासु अटवीषु ? 'भिल्लतस्करपुलिंदसद्वलसद्भीमासु' । भिल्लाः—पल्लीवास्तव्याः तस्कराश्चोराः पुलिंदा-वनेचराः शार्दूला-व्याघ्राः । ततो द्वन्द्वः कार्यः । भिल्लाश्च तस्कराश्च पुलिंदाश्च शार्दूलाश्च भिल्लतस्करपुलिंदशा-र्दूलास्तेषां शब्दास्तत्र भिल्लानां हत हत, तस्कराणां—गृहीत गृहीत, इत्यादिरूपाः । शार्दूलानां गुंजारवाः तैर्भीमा रौद्रास्तासु । पुनः किंविशिष्टासु अटवीषु, ? 'भयविहलवुक्त्रकायरउल्लरिअपहिअसत्थासु' । भयेन विह्वलाः भय-विह्वलाः । पुनः 'वुक्त्रि' विषण्णाः । विषण्णशब्दस्य प्राकृते वुक्त्रादेशः (प्रा० ४।४२१ पृ. २३१) । ततो विशेषेण कर्मधारयः । भयविह्वलाश्च ते वुक्त्राश्च भयविह्वलवुक्त्राः । तथा अकारप्रश्लेषात् न कातरा अकातराः भिल्लादयः तैः 'उल्लरिता' लुटिता छिन्ना वा पथिकानां सार्था यासु ताः भय० । एतावता यासु अटवीसु भयविह्वलानां वुक्त्रानां पथिकानां सार्थाः भिल्लादिभिर्लुण्ठिताः सन्ति, विशेषणव्यत्ययस्तु प्राकृतत्वात् ॥१०-११॥

अथ सिंहभयाऽपहारमाह—

पञ्जलिआनलनयणं, दूरविआरिअमुहं महाकायं ।

नहकुलिसघायवियलिय, गइंदकुंभत्थलाभोअं ॥१२॥

पणयससंभमपत्थिव-नहमणिमाणिकपडिअपडिमस्स ।

तुह वयणपहरणधरा, सीहं कुद्धंपि न गणंति ॥१३॥

व्याख्या—हे श्रीपार्थ ! तव वचनप्रहरणधराः पुरुषाः सिंहं क्रुद्धमपि कोपाटोपमासुरमपि न गणयन्ति । निर्भयहेतुतया संभावयन्ति । 'वचनं' आज्ञा त्वया कथितस्य मार्गस्य सेवना, अथवा तव नाममन्त्रस्मरणरूपा सैव प्रहरणं अमोघं आयुधं तद् धरन्तीति तव वचनप्रहरणधराः । शस्त्रभृतो वीराः सिंहं तृणायाऽपि न मन्यन्ते । किंविशिष्टस्य तव ? 'पणयससंभमपत्थिवनहमणिमाणिकपडिअपडिमस्स' । प्रणताः—नन्तु आरब्धा ससंभ्रमा आदरसहिताः, ततः प्रणताश्च ससंभ्रमाश्च ये पार्थिवाः—पृथिवीपतयः । अथवा पृथिव्यां ख्याता विख्याताः पार्थिवा इन्द्रादयः तेषां नखमणिमाणिक्येषु पतिता—निविष्टा प्रतिमा प्रतिबिम्बं यस्य सः प्रणतससंभ्रमपार्थिवनख-मणिमाणिक्यपतितप्रतिमस्तस्य प्र० । मणिषु रत्नेषु मध्ये माणिक्यानि ज्योत्यरत्नानीत्यर्थः । नखा एव स्वच्छ-त्वात् मणिमाणिक्यानि नखमणिमाणिक्यानि यस्य नखरत्नेषु प्रणमन्तः पार्थिवाः प्रतिबिम्बिताः । अथवा प्रणतस-संभ्रमपार्थिवानां नम इव नमो-मस्तकं भूमध्यादुपरितनं स्थानं आकाशतया मन्यते । अत्र मणयः—चन्द्रकान्ताद्याः, माणिक्यानि च कर्केतनादीनि तेषु प्रतिता प्रतिमा—बिम्बं यस्य भगवानिव तत्र प्रतिबिम्बित इत्यर्थः । घटते च प्रणमतां शिरोरत्नेषु प्रणमनीयस्य प्रतिबिम्बः । तथा च भट्टलक्ष्मीधरः—

“पुनातु पादान्तपतद्भरित्री-सीमन्तरत्नप्रतिबिम्बितो वः ।

तन्मस्तकारूढमुरारिभार-निरस्तिहेतोरिव चक्रपाणिः ॥१॥”

किंविशिष्टं सिंहं ? 'पञ्जलिआनलनयणं' । प्रज्वलितः ज्वलितुं आरब्धः अनलो-वह्निः तद्वत् रक्तत्व-दीप्तत्वसाध्यान्नयने-लोचने यस्य स प्रज्वलितानलनयनस्तं प्र० । किंविशिष्टं सिंहं ? दूरविआरिअमुहं 'हूरं

२६

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

अत्यर्थं विदारितं प्रसारितं मुखं येन स दूरविदारितमुखस्तं दूर० प्रसारितमुखंकुहरमित्यर्थः । पुनः किंविशिष्टं सिंहं ? महाकायं महान् कायः शरीरं यस्य स महाकायस्तं पुष्टांगमित्यर्थः । अथवा “कै गै रै शब्दे” कानं कायः—शब्दो महान् कायः श्वेद्वानादो यस्य स महाकायस्तं महा० । पुनः किंविशिष्टं सिंहं ? नहकुलिस-
घायवियलियगईदकुंभस्थलाभोगं’ नखा एव कुलिशानि वज्राणि नखकुलिशानि तेषां घातः प्रहारस्तेन कृत्वा विदलितः पाटितः गजेन्द्राणां महागजानां कुंभस्थलाभोगः कुंभतटविस्तारो येन सः नखकुलिशघातविदलित-
गजेन्द्रकुंभस्थलाभोगस्तं० ॥१२-१३॥

अथ गजभयापहारमाह—

ससिधवलदन्तमुसलं, दीहकरुल्लालवुद्धिउच्छाहं ।

मधुपिंगनयणजुयलं, ससलिलनवजलहरायारं ॥१४॥

भीमं महागईदं, अचासन्नपि ते न विगणंति ।

जे तुम्ह चलणजुयलं, मुणिवइ ! तुंगं समल्लीणा ॥१५॥ युग्मम् ॥

व्याख्या—हे मुनिपते ! हे मुनीन्द्र ! ये नराः तव चरणयुगलं तुंगं समालीनाः सम्यक् आश्रिताः ते नरा अत्यासन्नमपि—अत्यन्तनिकटप्राप्तमपि गजेन्द्रं हस्तिराजं न विगणयन्ति भयहेतुतया न भावयन्ति । मुनीनां पतिः मुनिपतिः तस्य सम्बोधनं हे मुनिपते ! श्रीपार्श्वनाथ ! चरणयोर्युगलं चरणयुगलं तत् च० । किंविशिष्टं चरणयुगलं ‘तुंगं’ गुणैरुच्चैस्तरं, यो किल उन्नतपर्वतादिकं समाश्रयति तस्य अत्यासन्नादपि गजेन्द्रात् भयं न स्यात् । पुनः किंविशिष्टं गजेन्द्रम् ? भीमं—रौद्रम् । पुनः किंविशिष्टं गजेन्द्रं ? ‘ससिधवलदन्तमुसलं’ शशी—चन्द्रस्तद्वत् धवलौ शशधवलौ । उपमानं सामान्यैरिति समासः, दन्तौ मुसलौ इव दन्तमुसलौ, शशधवलौ दन्तमुसलौ यस्य सः शशधवलदन्तमुसलस्तं श० । पुनः किंविशिष्टं गजेन्द्रं ? दीहकरुल्लालवुद्धिउच्छाहं दीर्घः प्रलम्बः यः करः—शुष्पादण्डः तस्य उल्लालं उच्छालनं तेन वर्धितो—वृद्धिं प्रापितः उत्साहः प्रगल्भता यस्य सः दीर्घकरुल्लालवर्धितोत्साहस्तं दी० । पुनः किंविशिष्टं गजेन्द्रम् ? ‘मधुपिंगनयणजुयलं’ । मधु—माक्षिकं तद्वत् पिंगलवर्णं नयनयुगलं यस्य सः मधुपिंगनयनयुगलस्तं म० । पुनः किंविशिष्टं गजेन्द्रं ? ‘ससलिलनवजलहरायारं’ । सह सलिलेन पानीयेन वर्तते यः सः ससलिलः पानीयपूर्णः यो नवजलधरो—नवीनमेघः तस्य आकारः इव आकृतिर्यस्य सः श्यामवर्णत्वात् ससलिलनवजलधराकारस्तं स० । अथवा स्वसलिलेन स्वकीयमदजलेन नवजलधराकारं मदजलवर्षणात् ॥१४-१५॥

अथ संग्रामभयापहारमाह—

समरंमि तिकखखग्गा—भिघायपविद्धउद्धयकवंधे ।

कुंतविणिभिन्नकरिकलहमुक्कसिक्कारपउरंमि ॥१६॥

निज्जियदप्पुद्धुररिउ,—नरिंदनिवहा भडा जसं धवलं ।

पावंति पावपसमण ! पासजिण ! तुह प्पभावेण ॥१७॥ युग्मम् ॥

व्याख्या—हे श्रीपार्श्वजिन ! भटाः—सुभटाः ‘तुह प्पभावेण’ तव प्रसादेन ‘समरंमि’ एवंविधे संग्रामे जसं—यशः प्राप्नुवन्ति पराक्रमसाधुवादं लभन्ते । हे पापप्रशमन !, पापं—अशुभं कर्म यदुदयात्पराजयो भवति तत् प्रशमयति—शमं नयतीति पापप्रशमनस्तस्य संबोधनं हे पापप्रशमन ! । किंविशिष्टं यशः ? धवलं उज्ज्वलं । किंविशिष्टा भटाः ? ‘निज्जियदप्पुद्धुररिउरिंदनिवहा’ । दर्पेण—अभिमानेन उद्धुराः उन्नता दर्पोद्धुरा रिपूणां

सप्तस्मरणस्तवः ।

२७

शत्रूणां निवहाः—समूहा रिपुनिवहाः । दपोद्धुराश्च ते रिपुनिवहाश्च दपोद्धुररिपुनिवहाः, निर्जिता दपोद्धुररिपुनिवहा यैस्ते निर्जितदपोद्धुररिपुनिवहाः । किंविशिष्टे समरे ? ‘तिस्रस्त्रिगुणाभिघायपविद्धउद्धुअकबंधे’ । तीक्ष्णाः तीक्ष्णधारा ये खड्गास्तेषां ये अभिघाताः प्रहाराः तैः ‘पविद्ध’ति पविद्धशब्देन अयन्त्रितार्थवृत्तित्वात् अयन्त्रितं उच्छृंखलं यथा भवत्येवं उद्धुता इतस्ततो नर्तितुं प्रवृत्ताः, उद्धतपाठे उद्धताः कबंधाः शीर्षरहितनृत्यादिक्रियायुक्ता देहा यत्र सः तीक्ष्णखड्गाभिघातपविद्धोद्धुतकबन्धस्तस्मिन् ती० । अनेन विशेषेण महासंग्रामो ज्ञापितः, यत्र हि पराः सहस्राः महारथा निपतन्ति तत्रैव कबन्धानां नृत्यं रूढम् । पुनः किंविशिष्टे समरे ? ‘कुंतविणिभिन्नकरिकलहमुक्कसिक्कारपउरंमि’ । कुंतैर्भलैः शस्त्रविशेषैः विनिर्भिन्ना विदारितांगा ये करिकलभाः करिणां हस्तिनां कलभाः त्रिशद्वर्षीया हस्तिनः तैर्मुक्ता मनाक् प्रगल्भतया निमुष्टा ये शीत्काराः शीत्कृतरवाः तैः प्रचुरो बहुलः, कचित्पवरेति पाठस्तत्र तैः प्रवरः प्रधानस्तस्मिन् ‘कुन्तविनिर्भिन्नकरिकलभमुक्कसीत्कारप्रचुरे’ । अत्र ‘विनिर्भिन्न’ इति शब्दे ‘अत्यव्यञ्जनस्य’ (प्रा० १।११५) इति प्राकृतसूत्रेण निरो रल्लक् ॥१६—१७॥

साम्प्रतं पूर्वोक्तानामेव भयानां संग्रहमाह—

रोग-जल-जलण-विसह-चोरारि-महद-गयर-रण-भयाहं ।

पासजिणनामसंकित्तेणे, पसमंति सव्वाहं ॥१८॥

व्याख्या—रोगादिकभयानि “सव्वाहं पासजिणनामसंकित्तेणे पसमंति” रोगादिभयानि सर्वाणि निःशेषाणि पार्श्वजिननामसंकीर्तनेन प्रशाम्यन्ति प्रकर्षेण अपुनरुत्थानेन शाम्यन्ति विरमन्ति, पार्श्वजिनस्य नाम—अभिधानं पार्श्वजिननाम तस्य संकीर्तनं—संशब्देन उच्चारणमिति यावत्, तेन हेतुभूतेन रोगाश्च कुण्ठादयः १, जलं च समुद्रादिपानीयं २, ज्वलनश्च दवाग्न्यादि ३, विषधराः अष्टनागकुलजाः सर्पाः ४, चौरा एव अरयः चौरारयः ५, मृगेन्द्रः—सिंहः ६, गजो—हस्ती ७, रणः—संग्रामः ८ । ततो द्वन्द्वे कृते रोगजलज्वलनविषधरचोरारि मृगेन्द्रगजरणास्तेभ्यो भयानि रोगादिभयानि ‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः सर्वत्र संबध्यते’ इत्युक्तत्वात् रोगभयानि जलभयानि, इत्यादि । अत्र च वृद्धविवरणादौ उक्तः कश्चित् मंत्रः प्रदर्श्यते । तथाहि—“ॐ ह्रीं नमिऊण पास ! विसहरवसह जिणफुलिंग ह्रीं रोगजलजलणविसहरचोरारिमहदगयररणभयाहं पासजिणनामसंकित्तेणे पसमंति सव्वाहं मम स्वाहा” ॥ इति । अयं च महामन्त्रोऽस्मिन्नेव सूत्रे पृथक्पदवर्णादिविभागेन कविना न्यस्तोऽस्ति । तथाहि—‘सडिअ’तिद्वितीयगाथायास्तृतीयपदे अनलशब्देन अग्निबीजम् ओंकारः । तथा ‘जगगुरुणो कमजुयलं’ इत्यादिसप्तमगाथायाः ‘निव्वाविअसयलतिहुयणाभोअं’ इति द्वितीयपदे त्रिभुवनशब्देन त्रैलोक्यबीजं ह्रींकारः । तथा ‘नमिऊणे’ति प्रथमपदे आदौ एव ‘नमिऊण’ इति । तथा ‘अविदलिअजाणवत्ते’ति पंचमगाथायाः तृतीयपदे ‘पास’ इति । तथा ‘विसहर’ इति वर्णचतुष्टयं तु ‘सडिअ’ इत्यादि द्वितीयगाथायां पृथक् पृथक् सूचितमस्ति । तथाहि—‘विण्णलावण्णा’ । अत्र ‘वि’ इति वर्णः १ ‘सडिअ’ इत्यत्र ‘स’ इति वर्णः २ ‘नहमुह’ इत्यत्र ‘ह’ वर्णः ३ । तथा ‘करचलण’ इत्यत्र ‘र’ वर्णः ४ । तथा ‘अविदलिअ’ इत्यादि पञ्चमगाथायास्तृतीयपदे, ‘पासजिण’ इत्यत्र ‘जिण’ इति पदं, तथा ‘सडिअ’ इत्यादि द्वितीयगाथायाश्चतुर्थपदे, ‘फुलिंग-निह्व’ इत्यत्र फुलिंगपदं, तथा ‘जो पढइ जो अ निमुणइ’ इति प्रान्त्यैकविंशतितमगाथायाश्चतुर्थपदे, ‘सयलभुवण्णिअचलणो’ अत्र सकलभुवनपदेन ह्रींकारः तथा अग्रेतनपदानि ‘रोगजलजलणविसहर’ इत्यादि गाथायामेव सन्ति । तथा ‘मम’ इति वर्णद्वयं व्यस्यते पृथक् पृथक् वर्तते । तत्र एकस्तु ‘म’ वर्णः प्रथमगाथायास्तृतीयपदे ‘चरणजुअलं महाभय’ अत्र, द्वितीयस्तु ‘म’ वर्णः चतुर्थगाथायाश्चतुर्थपदे ‘निजामयमुक्कवावारे’ इति, तथा ‘खरपवणु-

५८

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

द्वुअवणदव' इत्यादि षष्ठगाथायाः प्रथमपदे पवनशब्देन वायुबीजं 'स्वा' इति तथा 'पणयससंभमे'ति त्रयोदश-
गाथाया द्वितीयपदे "नहमणि" इत्यत्र नभःशब्देन द्वितीयार्थकरणे नभोबीजं 'हा' इति स्पष्टो वर्ण इति "क्षिप
ॐस्वाहा" पंचभूतबीजानि । प्रभावस्तु अस्य महामन्त्रस्य 'रोगजलजलणे'ति गाथोक्त एव ज्ञातव्यः ॥१८॥

अथ विशेषेण निगमनं अभिधितुः आचार्यः गाथया प्रस्तुतस्तवस्य माहात्म्यमाह—

एवं महाभयहरं पासजिणिंदस्स संथवमुआरं ।

भविअजणाणंदयरं कल्लाणपरंपरनिहाणं ॥१९॥

व्याख्या—एकविंशतितमगाथाया उक्तिस्तथाहि—'पार्श्वः' श्रीपार्श्वनाथः पापं अशुभं प्रशमयतु प्रकर्षेण उप-
शमयतु । कयोः ? 'ताणं'ति तयोः, अत्र द्विवचने बहुवचनं प्राकृतत्वात् (प्रा०सू० ३।१३० पृ. १३३) । कयोः ?
यः कश्चित् एवं पूर्वोक्ताष्टादशगाथारूपं पार्श्वजिनेन्द्रस्य संस्तवं च पठति—स्वर१ व्यञ्जन२ मात्रा३ घोष४ विशुद्ध-
तया व्यक्तं वाचमारोपयति, पुनर्यश्च तेन पठ्यमानं निश्चृणोति, प्राकृते निपूर्वस्य 'शृणोति' क्रियापदस्य विशिष्टश्रव-
णार्थत्वात् उपयोगपूर्वकं शृणोति—आकर्णयति तयोः । चकारः समुच्चये ततः कवेः प्रस्तुतस्तोत्रकर्तुरपि पापं प्रशमयतु ।
किं विशिष्टस्य कवेः? मानतुंगस्य 'मानतुंग' इत्यभिधानस्य । किंविशिष्टः पार्श्वः ? 'सयलभुवणच्चियचलणो' । सकलं
समस्तं यद् भुवनं जगत् तेन अर्चितौ चलनौ पादौ यस्य सः सकलभुवनार्चितचरणः । भुवनशब्देन अत्र
भुवनजना गृह्यन्ते । "तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश" इतिन्यायात् । किंविशिष्टं संस्तवं ? महाभयं हरति अपनयति
इति महाभयहरस्ते म० । अथवा महाभयपदस्य अयमर्थः—महाः उत्सवाः अभयं भयाभावस्तेषां गृहं—निवासभूतं ।
गृहशब्दस्य घरादेशः । (प्रा० २।१४४ पृ. ७७) ततः प्राकृते वस्य हस्ते (प्रा० १।१८७ पृ. ४२) महाभयहरं ।
पुनः किंविशिष्टं संस्तवं ? 'भवियजणाणंदयरं' भवन्ति गुणभाजनं इति भव्याः—सिद्धिगमनयोग्याः ते च अव्यव-
हारराशिनिगोदा अपि भवन्ति, भव्याः सन्तिः परं ते न कदाचिदपि सेत्स्यन्ति । यदुक्तवन्तो वृद्धाः—

"सामग्गिअभावाओ, ववहारिरअरासिअप्पवेसाओ

भवा वि ते अणंता, जे सिद्धिसुहं न पावंति ॥१॥" इति

ततस्तन्निरासाय आह—ते भव्याः के? जनाः जायंते व्यवहारिकराशौ देवगतौ मनुष्यगतौ घेति जनाः, नरक-
गतितिर्यग्गतिस्थानां संस्तवनस्य पठनश्रवणयोरभावेन तस्मिन् भवे मोक्षगमनाभावः । ततो भव्याश्च ते जनाश्च
भव्यजनास्तेषां आनंदं आह्लादं करोतीति भव्यजनानन्दकरस्तं म० । पुनः किंविशिष्टं स्तवं ? उदारं—शब्द-
तोऽर्थतश्च महान्तम् उदाराभिधानमुदाराभिधेयं चेत्यर्थः, पुनः किंविशिष्टं संस्तवम् ? 'कल्लाणपरंपरनि-
हाणं' कल्याणानां सम्पदुत्कर्षाणां परंपरा उत्तरोत्तरा तारतम्येन श्रेष्ठा तस्या निधानमिव निधानं स्थापितधनभा-
जनं कल्याणपरंपरनिधानं "दीर्घहृत्त्वौ मिथो वृत्तौ" (प्रा० १।४पृ. ३२) इति प्राकृतसूत्रेण ह्रस्वत्वम् ॥१९॥

अथ प्रस्तुतस्तवनस्य माहात्म्यपूर्वं येषु स्थानेषु स्मर्यते तानि स्थानान्याह—कासु अवस्थासु पठति
निश्चृणोति ? इत्याह—

रायभय-जक्ख-रक्खस, -कुसुमिण-दुस्सउण-रिक्खपीडासु ।

संझासु दोसु पंथे, उवसग्गे तह य रयणीसु ॥२०॥

जो पढइ जो अ निसुणइ, ताणं कहणो य माणतुंगस्स ।

पासो पावं पसमेउ, सयलभुवणच्चियचलणो ॥२१॥

सप्तस्मरणस्तवः ।

२९

व्याख्या—‘राज्ञः’ सकाशात् दण्डादिकृतं भयं राजभयं । ‘यक्षाः’ शूलपाणिप्रमुखाः २, ‘राक्षसाः’ ब्रह्मराक्षसादयः ३, ‘कुस्वप्मानि’ अशुभसूचिताः स्वप्नोपलम्भाः खरकरभमहिषारोहण १ गीत २ नृत्य ३—प्रेताह्वानादयः ४ । दुःशकुनानि दिग्गचेष्टास्थानस्वरगतिदीप्तानि, प्रवेशे वा यात्रिकाणि यात्रायां प्रावेशिकानि वा, क्षुत-रुदित-बिडालदर्शनादीनि वा दुष्टशकुनानि । तथा ऋक्षाणि—नक्षत्राणि राशयो वा ‘रिक्ख’ इत्यत्र अकारप्रलेपात् । अरयः—शत्रवः, खशब्देन खस्था आकाशस्था ग्रहा उच्यन्ते । ततस्तेषां यक्षादीनां कृतद्वन्द्वानां पीडाः, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः सर्वत्र पीडाशब्दः संबध्यते, यक्ष—राक्षस—कुस्वप्न—दुःशकुनऋक्षाणि तेषां पीडाः । ततो राजभयं च यक्षराक्षसकुस्वप्नदुःशकुनऋक्षपीडाश्च राजभय—यक्ष—राक्षस कुस्वप्न—दुःशकुन—ऋक्षपीडास्तासु । पुनः कुत्र ? ‘संज्ञासु दोसु’ सन्ध्याद्वयोः प्रभाते संध्यायां च । पुनः कुत्र ? ‘पन्थे’ अरण्यादिमार्गेषु । पुनः कुत्र ? ‘उवसग्गे’ देवादिकृते उपसर्गे—उपद्रवे । पुनः कुत्र ? ‘रयणीसु’ रजनीषु—रात्रिषु, उपलक्षणत्वाद्विवसेष्वपि । एतेषु पूर्वोक्तेषु भयस्थानेषु वा यः कोऽपि एनं संस्तवं पठति शृणोति तस्य भयं पीडाश्च ‘न य’ न भवन्तीति फलितार्थः ॥२०—२१॥

इदं च स्तवनं महाप्रभावं गंभीरार्थं च वर्तते, मया तु अल्पमतिना किञ्चित् किञ्चित् व्याख्यातं, विस्तरार्थिना लघुखरतरगच्छीय—श्रीजिनसिंहसूरिशिष्यलब्धपद्मावतीवरश्रीजिनप्रभसूरि—संवत् १३६४-वर्षीयपौषसुदिनवमीदिनकृतटीकातोऽवसेयम् ।

“नमिऊण-स्तवस्यैनां, वृत्तिं समयसुन्दरः ।

चक्रे स्वपरशिष्याणां, हेतवे सुखबोधिकां ॥१॥”

इति नमिऊणस्तववृत्तिः सम्पूर्णा ॥३॥

अथ चतुर्थस्तवः ।

सप्तस्मरणसूत्रस्य, चतुर्थस्य प्रयत्नतः ।

साम्प्रतं कुरुते वृत्तिं, गणिः समयसुन्दरः ॥१॥

श्रीखरतरगच्छाधिराजः नागदेवश्रावकाराधितश्रीअंबिकाप्रकटीकृतयुगप्रधानविरुदाः, चतुःषष्ठियोगिनी-साधकाः, महासातिशयाः श्रीजिनदत्तसूरयो बभूवुः । तैश्च एकदा रोगव्यन्तरादिदोषत्रस्तान् धार्मिकजनान् दृष्ट्वा करुणां कृत्वा श्रीसंघरक्षार्थं उपकारार्थं च “तं जयउ जए तित्थं” इत्यादिस्मरणश्चक्रे तथाहि—

तं जयउ जए तित्थं, जमित्थ तित्थाहिवेण वीरेण ।

सम्मं पवत्तिअं भव्वसत्तसंताणसुहजणयं ॥१॥

व्याख्या—तत् तीर्थं—चतुर्विधं श्रीसंघः अत्र जगति—लोके जयतु यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत् किं ? यत्तीर्थं वीरेण सम्यक्—मर्यादाया अतिक्रमं विना प्रवर्तितं स्थापितं स्थास्यति च—

“वासाण वीससहसा, नवसय तिअमास पंचदिणं पहरा ।

एक्का पडिआ दोपल, अक्खरगुणयाल जिणधम्मो ॥१॥”

इति यावत् । किञ्चिद्विशिष्टेन वीरेण ? ‘तित्थाहिवेण’ तीर्थस्य अधिपेन स्वामिना । किञ्चिद्विशिष्टं तीर्थं ? ‘भव्वसत्तसंताणसुहजणयं’ भव्याश्च ते सत्त्वाश्च प्राणिनः भव्यसत्त्वास्तेषां सन्तानस्य सुखं जनयतीति भव्यसत्त्वसन्तानसुखजनकम् ॥१॥

अथ प्रथमपरमेष्ठिनं वर्णयन्नाह—

नासियसयलकिलेसा, निहयकुलेसा पसत्थसुहलेसा ।

सिरिवद्धमाणतित्थस्स मंगलं दिंतु ते अरिहा ॥२॥

व्याख्या—ते अर्हन्तः प्रथमपरमेष्ठिनः श्रीवर्धमानतीर्थस्य—श्रीमहावीरसंघस्य मंगलं कल्याणं ददतु ।
 किंविशिष्टा अर्हन्तः ? ‘नासियसयलकिलेसा’ नाशिताः सकलाः क्लेशाः यैस्ते नाशितसकलक्लेशाः । पुनः
 किंविशिष्टा अर्हन्तः ? ‘निहतकुलेसा’ निहताः कुलेभ्यः अप्रशस्तकृष्णादिलेभ्यः, पुनः किंविशिष्टा अर्हन्तः ?
 ‘पसत्थसुहलेसा’ प्रशस्ताः शुभाः शुक्ला लेभ्यः येषां ते प्रशस्तशुभलेभ्यः । अथवा प्रशस्ताः सुखाः सुखकारिण्यो
 लेभ्यः येषां ते प्रशस्तसुखलेभ्यः ॥२॥

अथ द्वितीयपरमेष्ठिनः सिद्धान् स्तुवन्नाह—

निदङ्ककम्मवीया, बीआ परमिट्टिणो गुणसमिद्धा ।

सिद्धा तिजयपसिद्धा, हणंतु दुत्थाणि तिस्थस्स ॥३॥

व्याख्या—द्वितीयाः परमेष्ठिनः सिद्धाः—तीर्थस्य चतुर्विधसंघस्य दौस्थ्यानि ध्वन्तु—नाशयन्तु । किं-
विशिष्टाः सिद्धाः ? ‘निद्वङ्गकम्मबीजा’ । निर्दग्धानि निर्मूलितानि भस्मसातकृतानि कर्माण्येव बीजानि यैस्ते
निर्दग्धकर्मबीजाः । पुनः किंविशिष्टाः सिद्धाः ? ‘गुणसमिद्धा’ गुणैरेकत्रिंशद्भिः समृद्धा गुणसमृद्धाः ।
एकत्रिंशद्गुणानां गाथे इमे

“पडिसेहण-संठाणे, वण्णे गंध-रस-फास-वेए अ ।

पण-पण-दु-पण-दु-तिहा, इगतीस अकाय-संग-रुहा ॥१॥”

अथवा—“नव दरिसणंमि चत्तारि आउए पंच अमेअंते ।

सेसे दो भेया खीणाभिलावेण गुणतीसं ॥२॥”

अनयोर्गाथियोः व्याख्यानं यथा—व्यस्रश्चतुरस्रस्वर्तुल३मंडला४यतानां ५ पंचानां संस्थानानां प्रतिषेधः। एवं पञ्चानां वर्णानां कृष्णादीनां प्रतिषेधः १०। तथा गन्धस्य सुरभ्यादिभेदद्वयस्य प्रतिषेधः १२। तथा रसानां कटुकादीनां पञ्चानां प्रतिषेधः १७। तथा स्पर्शानां शीतादीनां अष्टानां प्रतिषेधः २५। तथा वेदानां त्रिविधानां पुरुषादिवेदानां प्रतिषेधः २८। अकायो—देहाभावः २९। असंगमः संगरहितः ३०। अरुहश्च जन्ममरणाभावः ३१। इति प्रथमगाथाव्याख्यानम् ॥१॥ द्वितीयगाथाव्याख्यानं यथा—नव भेदा दर्शनावरणीयस्य ९। चत्वारो भेदा आयुषः १३। पञ्च भेदा ज्ञानावरणीयस्य १८। पुनः पंच भेदा अन्तरायस्य २३। शेषे अनुक्ते वेदनीयस्य भेदद्वयं साता—ऽसातरूपं २५। मोहनीयस्यापि भेदद्वयं चारित्रमोहनीय १ दर्शनमोहनीय २ चेति २७। नामकर्मणोऽपि भेदद्वयं शुभनामकर्म १ अशुभनामकर्मैति २। २९। तथा गोत्रस्यापि भेदद्वयं उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं चेति २।३१॥ अत्र गाथायां 'स्त्रीणाभिलाषेणे'ति पाठात् क्षीणाभिलाषेन ३१ भेदा वाच्याः। कोऽर्थः? ज्ञानावरणं कर्म यस्य क्षीणं १, दर्शनावरणं कर्म यस्य क्षीणं, इत्येवं पदद्वयं सर्वत्र वाच्यम्। पुनः किंविशिष्टाः सिद्धाः 'तिजयपसिद्धा' त्रिजगत्प्रसिद्धाः ॥३॥

अथ तृतीयपरमेष्ठिन आचार्यान् स्तुवन्नाह—

आयारमायरंता, पंचपयारं सया पयासंता ।

आयरिया तह तित्थं, निहयकुतित्थं पयासंतु ॥४॥

सप्तस्मरणस्तवः ।

३१

व्याख्या—आचार्या आचारे साधवः आचार्याः तृतीयपरमेष्ठिनः ‘तीर्थ’ चतुर्विधसंघरूपं प्रकाशयन्तु स्फुरत्प्रभावनाप्रभाभिः उद्योतयन्तु । किं कुर्वन्त आचार्याः ? पञ्चप्रकारं आचारं स्वयं आचरन्तः परेभ्यश्च सदा—निरन्तरं प्रकाशयन्तः । पंचाचाराः प्रस्तूयन्ते—ज्ञानाचारः १ दर्शनाचारः २ चारित्राचारः ३ तप आचारः ४ वीर्याचारश्चेति ५ । किंविशिष्टं तीर्थं ? ‘निहतकुतीर्थं’ निहतं कुतीर्थं येन तत् नि० ॥४॥

अथ चतुर्थपरमेष्ठिनः श्रीउपाध्यायानाह—

सम्मसुअवायगा वायगा य सिअवायवायगा वाए ।

पवयणपडिणीअकए, ऽवणंतु सव्वस्स संघस्स ॥५॥

व्याख्या—वाचकाः श्रीउपाध्यायाः चतुर्थपरमेष्ठिनः सर्वस्य संघस्य प्रवचनप्रत्यनीकान्—जिनशासन-प्रद्वेषिणः अपनयन्तु—निर्दाटयन्तु । क ? वादे परदर्शनिभिः समं वादे प्रारब्धे सतीति शेषः । किंविशिष्टा वाचकाः ? ‘सिअवायवायगा’ स्याद्वाचं वदन्तीत्येवंशीलाः स्याद्वादवादकाः । पुनः किंविशिष्टाः वाचकाः ? सम्यक्-श्रुतवाचकाः—सम्यक्प्रकारेण यथा तीर्थकरणधैरैरर्थसूत्राभ्यामुपदिष्टं तथैव वाचका उपदेशदातारः ॥५॥

अथ पञ्चमपरमेष्ठिनः साधून् स्तुवन्नाह—

निव्वाणसाहणुज्जय, -साह्वणं जणिअसव्वसाहज्जा ।

तिथप्पभावगा ते, हवंतु परमिट्ठिणो जहणो ॥६॥

व्याख्या—ते यतिनः पञ्चमाः परमेष्ठिनः तीर्थप्रभावकाः भवन्तु, तीर्थस्य चतुर्विधसंघस्य प्रभावकाः उद्योतकारकाः । किंविशिष्टा यतिनः ? ‘निव्वाणसाहणुज्जयसाह्वणं जणियसव्वसाहज्जा’ । निर्वाणं—मोक्ष-स्तस्य साधनं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं, तत्र उद्यता उद्यमकर्तारो ये साधवः ते निर्वाणसाधनोद्यतसाधवः, तेषां जनितं—उत्पादितं सर्वसाहाय्यं—तपस्यादि कुर्वतां सांनिध्यं यैस्ते ॥६॥

अथ ज्ञानदर्शनचारित्राणि स्तोतुं इच्छन् प्रथमं ‘सम्यक्त्वे च सति ज्ञानचारित्रे सफले भवेतां’ इति हेतोः पूर्वं सम्यक्त्वं स्तुवन्नाह—

जेणाणुगयं नाणं, निव्वाणफलं [करं] च चरणमवि हवइ ।

तिथस्स दंसणं तं, मंगलमवणेउ सिद्धिकरं ॥७॥

व्याख्या—तव ‘दर्शनं’ सम्यक्त्वं तीर्थस्य अमंगलं, न मंगलं अमंगलं अशोभनं ‘अपनयतु’ स्फेडयतु । तत् किं ? येन दर्शनेन अनुगतं सहितं सत् ज्ञानं निर्वाणकरं मोक्षकरं भवति । क्वापि ‘मोक्षफलं’ इति पाठः । न केवलं ज्ञानमेव दर्शनसहितं मोक्षकरं, किन्तु ‘चरणमपि’ चारित्रमपि दर्शनसहितं एव मोक्षसाधकं भवति । “नाणदंसणं समाणं” इत्यादिवचनात् ॥७॥

अथ ‘सम्यक्त्वे सति कियारूपस्य चारित्रस्य प्रवृत्तिः सफला स्यात्’ इति ज्ञानं स्तुवन्नाह—

निच्छम्मो सुअधम्मो, समग्गभव्वंगिवग्गकयसम्मो ।

गुणसुट्ठिअस्स संघस्स मंगलं सम्ममिह दिसउ ॥८॥

व्याख्या—श्रुतधर्मः संघस्य इह मंगलं दिशतु । सम्यक् भव्यरीत्या । किंविशिष्टो धर्मः ? निच्छद्मः निर्गतं छद्म—कपटं यस्मात् स निच्छद्मो निष्कपटः । पुनः किंविशिष्टो धर्मः ? ‘समग्गभव्वंगिवग्गकयसम्मो’ । समग्गः—समस्ता ये भव्या अंगिनः प्राणिनः तेषां वर्गः—समूहः तस्य कृतं शर्म । किंविशिष्टस्य संघस्य ? गुणसुस्थितस्य गुणेषु सु—सुष्ठुप्रकारेण स्थितस्य ॥८॥

३२

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

अथ सम्यक्त्वज्ञानयोरनुगामि एव चारित्रं, ततश्चारित्रं स्तुवन्नाह—

रम्मो चरित्तधम्मो, संपावियभव्वसत्तसिवसम्मो ।**नीसेसकिलेसहरो, हवउ सया सयलसंघस्स ॥९॥**

व्याख्या—‘चारित्रधर्मः’ ‘सयलसंघस्स’—समस्तसंघस्य निःशेषकेशहरो भवतु सदा । निःशेषाः समस्ता ये केशास्तान् हरतीति निःशेषकेशहरो । किंविशिष्टो धर्मः ? रम्मो—मनोहरो जीवदयारूपत्वात् । पुनः किंविशिष्टो धर्मः ? संप्रापितभव्यसत्त्वशिवधर्मः, संप्रापितं भव्यसत्त्वानां शिवस्य धर्मं सुखं येन सः सं० ॥९॥

अथ सम्यक्त्वज्ञानचारित्राराधकाः श्रीमुखा एव अतो गुरुन् स्तुवन्नाह—

गुणगणगुरुणो गुरुणो, सिवसुहमइणो कुणंतु तित्थस्स ।**सिरिवद्धमाणपहुपय-डियस्स कुसलं समग्गस्स ॥१०॥**

व्याख्या—गुरवः धर्माचार्याः श्रीहरिभद्रसूरि-मलयगिरि-शीलांगाचार्यादयः । तीर्थस्य समग्रस्य—समस्तस्य कुशलं कुर्वन्तु । किंविशिष्टा गुरवः ? ‘गुणगणगुरवः’ गुणाः प्रतिरूपादयः षट्त्रिंशत् तेषां गणः समूहः तेन गुरवो गरिष्ठाः । पुनः किंविशिष्टा गुरवः ? ‘शिवसुखमतयः’ शिवसुखे—मोक्षसौख्ये निःसांसारिकसुखे मतिर्येषां ते शिवसुखमतयः । किंविशिष्टस्य ? श्रीवर्धमानप्रभुप्रकटितस्य—श्रीवर्धमानप्रभुणा प्रकटितस्य प्ररूपितस्य श्री० ॥१०॥

अथ धर्मं कुर्वतां भव्यानां विघ्नान्तरायहराः साहाय्यकराश्च सम्यग्दृष्टिसुरा गोमुखयक्षादयः अतस्तान् स्मरन्नाह—

जिअपडिवक्खा जक्खा, गोमुह-मायंग-गयमुह-पमुक्खा ।**सिरिवंभसंतिसहिआ, कयनयरक्खा सिवं दितु ॥११॥**

व्याख्या—यक्षाः संघस्येति शेषः ‘शिवं’ कल्याणं उपद्रवनिवारणं ददतु । किंविशिष्टा यक्षाः ? ‘जिअपडिवक्खा’ जिता निहताः प्रतिपक्षाः जिनशासनस्य प्रत्यनीकाः यैस्ते जितप्रतिपक्षाः । पुनः किंविशिष्टाः यक्षाः ? गोमुखमातङ्गगजमुखप्रमुखाः गोमुखश्च—मातङ्गश्च—गजमुखश्च गोमुखमातङ्गगजमुखाः ते प्रमुखं आदि येषां ते गोमुखमातङ्गगजमुखप्रमुखाः । पुनः किंविशिष्टाः यक्षाः ? श्रीब्रह्मशान्तिसहिताः । पुनः किंविशिष्टाः यक्षाः ? ‘कयनयरक्खा’ कृता नतानां भगवत्प्रणतानां रक्षा यैस्ते कृतनतरक्षाः ॥११॥

पुनस्तान् स्तुवन्नाह—

अंभा पडिहयडिंवा, सिद्धा सिद्धाइआ पवयणस्स ।**चक्केसरि वइरुड्डा, संतिसुरा दिसउ सुक्खाणि ॥१२॥**

व्याख्या—अम्बा श्रीनेमिनाथस्य उपासिका देवी । किंविशिष्टा देवी अंभा ? प्रतिहतडिंवा, दूरीकृतोपसर्गविप्लवा १ । तथा सिद्धायिका शासनदेवता । किंविशिष्टा सिद्धायिका ? सिद्धा—श्रीवर्द्धमानस्वामिशासन-रक्षाकरणेन प्रसिद्धा २ । तथा चक्केश्वरी ३ वैरोख्या ४ शान्तिसुरा च ५ । इत्येतद्देवतापञ्चकं प्रवचनस्य चतुर्विधसंघस्य सौख्यानि द्विशतु ॥१२॥

पुनराह—

सोलस विज्जादेवीओ दितु संघस्स मंगलं बिउलं ।**अच्छुत्तासहियाओ, विस्सुयसुयदेवयाइ समं ॥१३॥**

सप्तस्मरणस्तवः

३३

व्याख्या—बोडश विद्यादेव्यः संपत्स्य विपुलं विस्तीर्णं मंगलं ददतु । किंविशिष्टाः बोडश देव्यः ? अच्छु-
सासहिता । अच्छुसा नाम देवी तया सहिताः । पुनः कया समं ? विश्रुतश्रुतदेवतया समं, विश्रुता श्रुतदेवता
तया सह । बोडश देव्यस्तु इमाः—रोहिणी १ प्रज्ञसी २ वज्रशृंखला ३ कुलिशांकुशा ४ चक्रेश्वरी ५
नरदत्ता ६ काली ७ महाकाली ८ गौरी ९ गांधारी १० सर्वास्त्रमहाज्वाला ११ मानवी १२ वैरोध्या
१३ अच्छुसा १४ मानसी १५ महामानसी १६ चेति । ननु 'जक्खा चउवीस सासणसुरावि' इत्यादिगाथायां
यक्षयक्षिणीनां स्वयमेव प्रतिपादनस्य वक्ष्यमाणत्वात् पुनः गोमुख १ मातंगां २ ऽवा ३ सिद्धायिका ४
चक्रेश्वरीणां ५, पुनः वैरोध्या ६ ऽच्छुसा—७ देव्योश्च पूर्वं भणितत्वात् पुनः पार्थक्येन एतासां सप्तानां कथं
भणनं पुनरुक्तदोषप्रसंगत्वात् ? । उच्यते—स्वपरेषु सानिध्यविधानस्य आधिक्यात्, सर्वत्र बहुप्रसिद्धत्वात्
बहुमानार्हत्वात् स्तुतियोग्यत्वाद्वा पुनर्भणने न दोषः ॥१३॥

जिणसासणकयरक्खा, जक्खा चउवीस सासणसुरा वि ।

सुहभावा संतावं, तिथस्स सया पणासंतु ॥१४॥

व्याख्या—चतुर्विंशतियक्षा यक्षिण्यश्च अपि—पुनः चतुर्विंशतिः शासनसुराः—शासनदेवता यक्षिण्य इत्यर्थः,
तीर्थस्य—चतुर्वर्णसंपत्स्य संतापं प्रणशयन्तु । किंविशिष्टा यक्षाः यक्षिण्यश्च ? । 'जिणसासणकयरक्खा'
जिनशासने 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः' इति जिनशासनस्थे जने कृता रक्षा महोपसर्गनिवारणरूपा यैर्वाभिश्च ते ता
जिनशासनकृतारक्षाः । पुनः किंविशिष्टास्ते ताश्च ? 'सुहभावा' शुभो भावो येषां यासां च ते ताश्च शुभभावाः । चतु-
र्विंशतियक्षा एते—गोमुख १ महायक्ष २ त्रिमुख ३ यक्षनायक ४ तुंबुरु ५ कुसुम ६ मातंग ७ विजया ८-
ऽजित ९ ब्रह्म १० यक्षेन्द्र ११ कुमार १२ षण्मुख १३ पाताल १४ किन्नर १५ गरुड १६
गन्धर्व १७ यक्षेन्द्र १८ कुबेर १९ वरुण २० भृकुटि २१ गोमेध २२ पार्थ २३ मातंग २४ नामानः ।
एते यक्षा ऋषभादि २४ तीर्थकराणां उपासकाः ॥ यक्षिण्योऽपि २४ एतास्तथाहि—चक्रेश्वरी १—अजितबला २
दुरितारि ३ कालिका ४ महाकाली ५ श्यामा ६ शान्ता ७ भृकुटी ८ सुतारिका ९ अशोका १०
मानवी ११ चंडा १२ विदिता १३ अंकुशा १४ कंदर्पा १५ निर्वाणी १६ बला १७ धारिणी १८
धरणमिया १९ नरदत्ता २० गान्धारी २१ अम्बिका २२ पद्मावती २३ सिद्धायिका २४ नाम्न्यः । एता
यक्षिण्यः ऋषभादि २४ तीर्थकराणामनुक्रमेण उपासनाकारिण्यः ॥१४॥

पुनराह—

जिणपवयणम्मि निरया, विरया कुपहाओ सव्वहा सव्वे ।

वेयावच्चकरा वि य, तिथस्स हवंतु संतिकरा ॥१५॥

व्याख्या—वैयावृत्यकरा अपि पूर्वोक्तन्यतिरिक्ता देवा अपि सर्वेऽपि तीर्थस्य शान्तिकरा भवन्तु । किं-
विशिष्टा वैयावृत्यकराः ? 'जिणपवयणम्मि निरया' । जिनप्रवचने निरता अनुरागभाजः । पुनः किंविशिष्टा
वैयावृत्यकराः ? कुपथात् महिषादिवधरूपमिथ्यात्वमागात् निन्धमागात् सर्वथा विरताः ॥१५॥

पुनराह—

जिणसमयसिद्धसम्मग्गविहिअभव्वाण जणिअसाहज्जो ।

गीयरइगीयजसो, सप्परिवारो सिवं विसउ ॥१६॥

स०५

३४

भीमदेवप्रतिष्ठापनः

व्याख्या—भीतरतिना उपलक्षितः सहितो गीतग्रन्थाः, भीतरतिः गीतग्रन्थाश्च एतौ द्वयमि यक्षौ द्वक्षिणोत्तरदिग्भाविष्यन्तरेन्द्रौ स्तः । भीतरतिगीतग्रन्थाः शिवं उपद्रवाऽभावं दिशतु । किंविशिष्टो गीत-ग्रन्थाः ? 'जिणसमयसिद्धसम्मगविहियमव्वाप्प जणिअसाहज्जो' जिणसमये अर्हतां आगम्ये सिद्धो निश्चितो यः सम्मार्गस्तत्र विहितास्तदाराधनसाम्राधाना ये भव्यास्तेषां जनितं तीर्थयात्राद्विपुष्योत्सवेषु संपादितं साहाय्यं धेनू सः तथा जि० पुनः किंविशिष्टो गीतग्रन्थाः । सत्परिवारो द्वादशविधगन्धर्वनिकायसत्परिवारसहितः ॥१६॥

पुनराह—

गिह-गुत्त-खित्त-जल-थल-वण-पव्वयवासि-देव-देवीओ ।**जिणसासणट्टियाणं, दुहाणि सव्वाणि निहणंतु ॥१७॥**

व्याख्या—'गिह' इत्युक्तिः—गृह १ गोत्र २ क्षेत्र ३ जल ४ स्थल ५ वन ६ पर्वत ७ वासिनो देवाः देव्यश्च कृतद्वन्द्वसमासः । जिणशासनस्थितानां प्राणिनां सर्वाणि दुःखानि निघ्नन्तु । तत्र गृहदेवो गृहदेवी, गोत्र-देवो गोत्रदेवी, क्षेत्रदेवः क्षेत्रदेवी, जलदेवो जलदेवी, स्थलदेवः स्थलदेवी, वनदेवो वनदेवी, पर्वतदेवः पर्वत-देवी इत्येवं तत्तद्वासिस्थानविशेषात्तत्तन्नामविशेषभाजो अमूः देवदेव्यः ॥१७॥

अथ गाथाद्वयेन दिग्पालादिस्मरणं कुर्वन्नाह—

दस दिसिपाला सखित्तपालय नवग्गहा सनखत्ता ।**जोइणि-राहुग्गह-कालपास-कुलिगद्ध-पहरेहिं ॥१८॥****सह कालकंदएहिं, सविट्टिवच्छेहिं कालवेलाहिं ।****सव्वे सव्वत्थसुहं दिसंतु सव्वस्स तित्थस्स ॥१९॥**

व्याख्या—दश दिक्पालाः—इन्द्र १—अग्नि २ यम ३ तैर्जित ४ वरुण ५ वायु ६ कुबेर ७—ईशान ८ नाग ९ ब्रह्म १० नामानः । किंविशिष्टा एते ? सक्षेत्रपालाः क्षेत्रपालसहिताः । पुनर्नवग्रहाः—आदित्य १ सोम २ मंगल ३ बुध ४ बृहस्पति ५ शुक्र ६ शनैश्चर ७ राहु ८ केतु ९ नामानः । किंविशिष्टा ग्रहाः ? 'सनक्षत्राः'—सहाप्याविशतितनक्षत्रैर्वर्तन्ते ये ते सनक्षत्राः २८ । नक्षत्राणि तु एतानि—अश्विनी १ भरणी २ कृत्तिका ३ रोहिणी ४ मृगशिर ५ आर्द्रा ६ पुनर्वसु ७ पुष्य ८ अश्लेषा ९ मघा १० पूर्वाफाल्गुनी ११ उत्तराफाल्गुनी १२ हस्त १३ चित्रा १४ स्वाति १५ विशाखा १६ अनुराधा १७ ज्येष्ठा १८ मूल १९ पूर्वाषाढा २० उत्तराषाढा २१ अभिजित् २२ श्रवण २४ धनिष्ठा २४ शतभिषक् २५ पूर्वभाद्रपद उत्तरभाद्रपद २७ रेवती २८ नामानि । पुनः ते कैः सह ? इत्याह—योगिनी १ राहुग्रह २ कालपाश ३ कुलिक ४ अर्धग्रहैः ५ ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धैः सहेति शेषः । पुनः कैः समं ? इत्याह—कालकण्टकैः ज्योतिः-शास्त्रप्रसिद्धैः सह समं । किंविशिष्टैः कालकण्टकैः ? सह विष्टि १ वत्साभ्यां २ वर्तन्ते ये ते सविष्टिवत्साः तैः सविष्टिवत्सैः । तत्र विष्टिः भद्रा, वत्सो ज्योतिष्कप्रसिद्धः । पुनः कालवेलाभिः समं । अत्रेदं रहस्यं—एते सर्वेऽपि दिक्पालाद्याः कालवेलापर्यन्ताः सर्वाथिमुखं प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥१९॥

अथ भवनपत्यादिदेवान् स्मरन्नाह—

भवणवह-वाणवन्त-जोइस-जेसासिआ म जे देवा ।**घरणिंदसन्नकसहिआ, वसेतु वुरिआहं तित्थस्स ॥२०॥**

सर्वस्मरणस्तोत्रः

६६

व्याख्या—ये भवनपत्यादयः एते देवाः सन्तीति शेषः ते तीर्थस्य दुरितानि दलन्तु । तत्र भवनपतयः असुरादयो दशविधाः, वानमंतराः पिशाचादयः षोडशः, ज्योतिष्काः पंचविधाः चन्द्र १ सूर्य २ नक्षत्र ३ ग्रह ४ तारकाः ५ । किंविशिष्टाः भवनपत्यादयः ? ‘धरणिन्द्रसङ्गसहिआ’ धरणीन्द्र—शक्राभ्यां सहिताः । उपलक्षणत्वात् यथा-योग्यं चमरेन्द्र १ बलीन्द्रादिकाः २ कालमहाकालेन्द्रादयः ईशानसनत्कुमारेन्द्रादयश्च ग्राह्याः । अयं फलि-तार्थः—एते सर्वेऽपि ये अत्र गाथायां व्याख्याताः ते सर्वेऽपि देवाः तीर्थस्य संवस्य जिनाज्ञाराधनातत्परस्य दुरि-तानि दलयन्तु खण्डशः कुर्वन्तु । धरणेन्द्रसक्रयोः भवनपत्यादिषु अन्तर्भूतयोरपि पृथक् ग्रहणं तयोस्तत्त्वामित्व-स्याप्यनार्थम् ॥२०॥

अथ तीर्थपतिश्रीवर्धमानं स्तुक्त्वाह—

चक्रं जस्स जलंतं, गच्छइ पुरओ पणासिअतमोहं ।

तं तित्थस्स भगवओ, नमो नमो वद्धमाणस्स ॥२१॥

व्याख्या—तस्मै इति शेषः । वर्धमानाय नमो नमोऽस्तु । अत्र ‘वद्धमाणस्से’ति प्राकृतत्वात् चतुर्थीस्थाने षष्ठीविभक्तिः । अन्यथा नमोयोगे चतुर्थी स्यात् । ‘नमो नमः’ इति वीप्सा तु नमस्कारस्य अतिशयस्यापना-र्थम् । तस्मै कस्मै ? यस्य भगवतः तत्पूर्वं किंचित् चक्रं धर्मचक्रं पुरतोऽपि गच्छति चलति, किं कुर्वत् ? तेजसा प्रज्वलत् । किंविशिष्टं चक्रं ? ‘पणासिअतमोहं’ प्रणाशितः तमसः ओघः समूहो येन तत् प्र० । किं-विशिष्टाय वर्धमानाय ? तीर्थाय—तीर्थकराय ॥२१॥

पुनः वर्धमानमेव स्तुक्त्वाह—

सो जयउ जिणो वीरो, जस्सऽज्जवि सासनं जए जयइ ।

सिद्धिपहसासनं कुपह, नासनं सव्वभयमहणं ॥२२॥

व्याख्या—स जिनो वीरो जयतु । सः कः ? यस्य वीरस्य शासनं अद्यापि दुःषमारकेऽपि जगति जयति । सर्वशासनोपरि सर्वोत्कर्षेण वर्तते । किंविशिष्टं शासनम् ? सिद्धिपथशासनं सिद्धिपथो मुक्तिमार्गस्तस्य उपदेशकम् । पुनः किंविशिष्टं शासनं ? कुपथस्य—मिथ्यात्वमार्गस्य नाशनं स्फोटकम् । पुनः किंविशिष्टं शासनं ? ‘सव्वभयमहणं’ सर्वभयानां मथनम् ॥२२॥

अथ सर्वेषां तीर्थकराणां सर्वगणधरान् स्तुक्त्वाह—

सिरिउसभसेणपमुहा, हयभयनिवहा दिसंतु तित्थस्स ।

सव्वजिणाणं गणहारिणोऽणहं वंछिअं सव्वं ॥२३॥

व्याख्या—सर्वजिनानां ऋषभादिवर्धमानान्तानां गणधराः तीर्थस्य चतुर्विधसंवस्य अनघं—विकलं सर्व-समस्तं वाञ्छितं—मनोऽभीष्टं दिशन्तु । किंविशिष्टाः गणधारिणः ? श्रीऋषभसेनप्रमुखाः श्रीऋषभसेनो नामान्तरेण श्रीपुण्डरीकः श्रीआदिनाथस्य प्रथमो गणधरः स प्रमुखः आदिर्येषां ते श्रीऋषभसेनप्रमुखाः । कियन्तः ? श्रीआव-श्यकाभिप्रायेण षट्पंचाशदधिकचतुर्दशशतसंख्याका इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टाः गणधारिणः ? ‘हयभय-निवहा’ । हतो निपाशितो भयानां इहलोकदिससंविधानां निवहः—समूहो यैस्ते हतभयनिवहाः ॥२३॥

अथ श्रीवीरतीर्थप्रवर्तकं वीरवंशोक्तितिप्रापकं युगप्रवरं तेषु सर्वथा ज्येष्ठत्वेन श्रीसुधर्मस्वामिनं पृथक् स्मरन्नाह—

सिरिवद्धमाणतित्था, हिवेण तित्थं समप्पियं जस्स ।

सम्मं सुहम्मंसामी, दिसउ सुहं सयल्लसंयस्स ॥२४॥

३६

श्री पूर्वाचार्यविरचितः

व्याख्या—श्रीसुधर्मस्तामी श्रीमहावीरस्य पञ्चमो गणधरः सकलसंघस्य सुखं दिशतु । यत्तदोर्निवामि-
स्मन्धातु स कः ? यस्य श्रीवर्धमानतीर्थाधिपेन तीर्थं सम्यक्-भग्यरीत्या समर्पितम् ॥२४॥

अथ ये जिनशासनानुकूलान्येऽपि ये देवास्तान् स्मरन्नाह—

पयईए भद्दा जे, भद्दाणि दिसंतु सयलसंघस्स ।

इयरसुरा वि हु सम्मं, जिणगणहरकहियकारिस्स ॥२५॥

व्याख्या—इतरसुरा अपि, 'हु'पादपूर्णे अन्ये अपि देवा जिनशासनानुकूलाः । जिनगणधरकथित-
कारिणः भद्दाणि कल्याणानि दिशन्तु । किंविशिष्टा इतरसुराः ? प्रकृत्या भद्रका ऋजवः । जिनैस्तीर्थकरैर्गणधरैश्च
यः कथितः प्रकृत्योपायं मार्गस्तस्य कारिणः । एता गाथा मया प्रायः संस्कारमात्रेण व्याख्याताः । आसु गाथासु
गूढमंत्राभासो वृद्धैराज्ञायाभावात् दर्शितः, ततो मयापि न लिखितः, पुनस्तद्विद्वैद्यज्ञानं व्याख्येयम् ॥२५॥

अथ अमुं स्तवं उपसंहरन् पठनफलं च दर्शयन्नाह—

इय जो पढइ तिसंझं, हुस्सज्झं तस्स नत्थि किंपि जए ।

जिणदत्ताणठिओ सो, सुनिष्ठिअटो सुही होइ ॥२६॥

व्याख्या—इति पूर्वोक्तप्रकारं स्तवं यः कोऽपि पठति त्रिसन्ध्यं प्रभाते मध्याह्ने सन्ध्यायां च, तस्य
दुःसाध्यं किमपि नास्ति जगति लोके येन यत्कार्यं बाञ्छितं तस्य तत्कार्यं सिद्धयतीत्यर्थः । तथा 'जिणदत्ता-
णठिओ' जिनेन श्रीमहावीरेण दत्ता या आज्ञा तस्यां स्थितः स सुनिष्ठितार्थः सन् सुखी भवति, सुनिष्ठितः
अर्थो यस्य स सुनिष्ठितार्थः सिद्धसाध्य इत्यर्थः । अत्र स्तवे प्रान्तगाथायां कविना 'जिनदत्त' इति स्वकीयनामापि
संसूचितं द्वयर्थत्वात् ॥ तंजयउस्तवस्त्यैवं वृत्तेः समयसुन्दरः । कर्त्ताहं विघ्नसंघातं ब्रन्तु देवादयो मम ॥१॥

॥ इति तंजयउस्मरणवृत्तिः सम्पूर्णा ॥४॥

पंचमः स्तवः ।

मयरहिअनामसंस्तववृत्तिं विदधाति साम्प्रतं सम्यक् ।

गणिसमयसुन्दरः श्रीगुरुभक्त्या भूरिलाभकृते ॥१॥

श्रीस्तंभनकपार्श्वनाथमूर्तिप्रकटनविरुद्धधारकाः नवांगीवृत्तिकारकाः श्रीअभयदेवसूरयो जाताः, तत्पट्टे च
क्रियाकठोराः पिण्डविशुद्धिप्रमुखग्रन्थकर्तारः श्रीजिनवल्लभसूरयोऽभवन् । तत्पट्टे श्रीजिनदत्तसूरयः परं कीदृशाः ? ।
यैः श्रीउज्जयिनीनगरे महाकालप्रासादे भारपट्टमध्ये श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण नानाप्रकाराभ्यायमयं पुस्तकं काल-
हानिं ज्ञात्वा स्थापितमभूत्, तत्पुस्तकं ज्ञानादिगुणरंजितश्रीशासनदेवताज्ञापितं सत् निष्काशितम्, पुनर्यै ओसि-
यानगरे लक्षश्रावकाः प्रतिबोधिताः । पुनर्यैः पञ्चदशशतसाधवः सहस्रसाध्यश्च दीक्षिताः । इत्याद्यवदातवन्तः
सातिशया अन्यदा साधुविहारेण विहरन्तः रोगादिभिः पीडितं जनं दृष्ट्वा करुणां प्रपन्नाः, ततः श्रीसंघस्य
श्रेयोऽर्थं रोगादिपीडितजनानामुपकारार्थं च महाप्रभावमयं 'मयरहिअं' नाम सुगुरुजनपारतन्त्र्यस्तवनरूपं स्मरणं
पञ्चमं चक्रुः । तत्र प्रथमगाथायां स्तवप्रतिज्ञां कृतवन्तः, तथाहि—

मयरहिअं गुणगणरयणसायरं सायरं पणमिऊणं ।

सुगुरुजणपारतंतं, उयहि व्व थुणामि तं खेव ॥१॥

व्याख्या—अहमिति शेषः । 'सुगुरुजणपारतंतं थुणामि' । गुरुवः सामान्याचार्याः तेषां मध्ये शोभना गुरुवः
सुगुरुवो युगप्रभक्तत्वेन विख्याताः अग्रे वक्ष्यमाणाः श्रीसुधर्मस्वामिप्रमुखाः, तेषां जनः समूहः, तस्य पारत-

सिंहस्मरणस्तवः

३७

न्ययम् आम्नायः सुगुरुजनपारतन्त्र्यं तत् । किं कृत्वा ? 'तं चेव' सुगुरुजनपारतन्त्र्यं प्रणम्य । अत्र 'व'शब्दः समुच्च-
यार्थे एवं प्रणम्य ? स्तवीमि चेति २ 'एव' शब्दोऽवधारणार्थे स च अन्यस्तोतव्यत्यागेन तदेव सुगुरुजन-
पारतन्त्र्यं नान्यदिति, तन्निर्देशः प्राकृतत्वात् । किंविशिष्टं सुगुरुजनपारतन्त्र्यं ? 'मयरहिअं,' मदा अष्टविधास्तै
रहितं । पुनः किंविशिष्टं ? 'गुणगणरयणसायरं' । गुणा-ज्ञानादयो मूलोत्तरविषया वा । तेषां गणाः समूहास्ते
एव रत्नानि तेषां सा लक्ष्मी तस्या आयो लाभः गुणगणरत्नसायः तं राति ददातीति अर्थोत्पन्नमतां गुणगण-
रत्नसायरं तत् । अत्र "आतोऽनुपसर्गेकः" पा. ३।२।३ इति सूत्रेण 'क' प्रत्यये सिद्धं । पुनः किंविशिष्टं सु० ?
'सायरं' दरो भयं न दरोऽदरो दरामावः, सह अदरेण वर्तते यत्तत् सादरं । तत् सुगुरुपारतन्त्र्यं किमिव
उदधिमिव समुद्रमिव । अत्र दृष्टान्त-दाष्टान्तिकयोर्लिंगभेदो न दोषाय "लिंगभेदं तु मेनिरे" इति वचनात् ।
उदधिपक्षे किंविशिष्टं उदधि ? मयरहिअं मकराणां मत्स्यानां हितकारकम् । पुनः किंविशिष्टं उदधि ? 'गुणगणर-
यणसायरं' । गुणाः शूलदिरोगापहारिण ऋद्धिबृद्धिसोभाग्यादिजनकाश्च तेषां गणः स विद्यते येषु रत्नेषु तानि
गुणगणरत्नानि कर्केतनादीनि षोडशविधानि, पुनः सा च लक्ष्मीः तयोराकरः स्थानं गुणगणरत्नसाकरसं
गु० । पुनः किंविशिष्टं उदधि ? 'सायरं' सातं सुखं पोतवणिजां अद्भुतधनोपार्जनादिना राति ददातीति सातरं ।
अत्र उपमालंकारः ॥१॥

अथ येषां नाममात्रस्मरणेन रोगाः प्रणश्यन्ति तान् सुगुरुन् श्रीसुधर्मस्वामिप्रमुखां साधारणविंशति-
विशेषणोपेतान् गाथापञ्चकेन स्तुवन्नाह-

निम्महिअमोहजोहा, निहयविरोहा पणट्टसंदेहा ।

पणयंगिवगगदाविअ, सुहसंदोहा सुगुणेहा ॥२॥

पत्तसुजहत्तसोहा, समत्थपरतिथिजणियसंखोहा ।

पडिभगगलोहजोहा, दंसियसुमहत्थसत्थोहा ॥३॥

परिहरिअसत्तबाहा, हयदुहराहा सिंवंबतरुसाहा ।

संपाविअसुहलाहा, खीरोदणिहिन्व अग्गाहा ॥४॥

सगुणजणजणिअपुज्जा, सज्जोनिरवज्जगहिअपव्वज्जा ।

सिवसुहसाहणसज्जा, भवगुरुगिरिचूरणे वज्जा ॥५॥

अज्जसुहम्मप्पसुहा, गुणगणनिवहा सुरिंदविहिअमहा ।

ताण तिसंझं नामं नामं न पणासई जिआणं ॥६॥

व्याख्या-अत्र पञ्चपदयोजना कार्या, सा चैवम्-'ताणंति' तेषां आर्यसुधर्मप्रमुखाणां नामं-अभिधानं
स्मर्यमाणमिति शेषः, 'त्रिसन्ध्यं' प्रभाते मध्याह्ने सन्ध्यायां च आमं-रोगं जीवानां न प्रणाशयतीति न, अपितु
प्रणाशयत्येव । द्वौ नजौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायात् । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तेषां केषां ? ये आर्य-
सुधर्मप्रमुखाः, एवंविधा आचार्या अभूवन् । आर्यसुधर्मः पञ्चमगणधरः प्रमुखः आदिः येषां ते आर्यसुधर्म-
प्रमुखाः श्रीजंबूस्वामि-प्रभवस्वामि-शय्यंभवस्वामि-यशोभद्र-संभूतविजय-भद्रबाहु-स्थूलभद्र-आर्यसुहस्ति-
सुरि-वज्रस्वामि-श्रीहरिभद्रसुरिप्रभृतयः । एते सर्वेऽपि कीदृशाः ? 'निर्मथितमोहयोधाः' निर्मथितो मोह एव
योधः सुभटो यैस्ते निर्मथितमोहयोधाः । पुनः कीदृशाः ? निहतविरोधाः निहतो नितरां अतिशयेन हतो
विरोधो यैस्ते निहतविरोधाः । पुनः कीदृशाः ? प्रणष्टसन्देहाः प्रणष्टः सन्देहः-संशयो येषां ते । पुनः
कीदृशाः ? प्रणतांगिवर्गदापितसुखसन्दोहाः प्रणतानां अंगिनां वर्गः-समुद्रः प्रणतांगिवर्गः तस्य द्वापितः

३८

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

सुखस्य सन्दोहः समूहो यैस्ते प्रणताग्निरादापितसुखसन्दोहाः । पुनः कीदृशाः ? सुगुणगेहाः सुष्ठु-शोभना गुणाः सुगुणा आचार्यसम्बन्धिनः षट्त्रिंशत् तेषां गेहाः गृहाणि । पुनः कीदृशाः ? प्राप्तसुयतिस्वशोभाः, प्राप्ता सुयतिस्वस्य सुयतिस्वेन क शोभा यैस्ते तथा । पुनः कीदृशाः ? समस्तपरतीर्थजनितसंक्षोभाः, समस्तानां परतीर्थिनां-अन्यदर्शनिनां जन्तित-उत्पादितः संक्षोभो यैस्ते समस्तपरतीर्थजनितसंक्षोभाः । पुनः कीदृशाः ? प्रतिममल्लोभयोधाः, प्रतिमम्लो लोभ एव योधो यैस्ते प्रतिममल्लोभयोधाः । पुनः कीदृशाः ? दर्शितसुमहार्थ-शास्त्रौघाः, दर्शितः-सुमहानर्थो येषु तानि सुमहार्थानि यानि शास्त्राणि सुमहार्थशास्त्राणि तेषां ओघः-समूहो यैस्ते दर्शितसुमहार्थशास्त्रौघाः । पुनः कीदृशाः ? परिहृतसत्त्वबाधाः, परिहृता दूरीकृता सत्त्वानां-प्राणिनां बाधा यैस्ते परिहृतसत्त्वबाधाः । पुनः कीदृशाः ? हतदुःखदाधाः, हतो दुःखानां दाधो-यैस्ते हतदुःखदाधाः । पुनः कीदृशाः ? शिवाभ्रतरुशाखाः, शिवमेव-मोक्ष एव आभ्रतरुस्तस्य शाखा इव शाखाः शि० । पुनः कीदृशाः ? संप्रापितदुःखलाभाः, संप्रापितः सुखस्य लाभो यैस्ते संप्रापितसुखलाभाः । पुनः कीदृशाः ? क्षीरोदनिधिवत् अगाधाः क्षीरसमुद्रवत् अगाधा अलम्बमध्याः ॥४॥ पुनः कीदृशाः ? सगुणजनजनितपूजाः सगुणजनैर्गुणवन्मनु-ष्यैर्जनिता पूजा येषां ते सगुणजनजनितपूजाः । अत्र प्राकृतत्वात् जस्य द्वित्वं । पुनः कीदृशाः ? सद्योनि-रवधगृहीतप्रव्रज्याः, सद्यः-शीघ्रं संदेगवशात् निरवध्या-निःपाषा निरतिचारा गृहीता अंगीकृता प्रव्रज्या-दीक्षा यैस्ते स० । प्राकृतत्वात् चान्तस्य परनिपातः । पुनः कीदृशाः ? शिवसुखसाधनसज्जाः शिवसुखस्य-मोक्षसुखस्य साधनानि ज्ञानदर्शनचारित्र्याणि तेषां साधने सज्जाः सावधानाः शि० । पुनः कीदृशाः ? भवगुरु-गिरिचूरणे, भव एव संसार एव गुरुर्गिरिष्ठो गिरिः पर्वतस्तस्य चूरणे दलने वज्राः ॥५॥ पुनः कीदृशाः ? गुण-गणनिवहाः गुणानां गणं समूहं नितरां वहन्ति धारयन्तीति गुण० । पुनः कीदृशाः ? 'सुरेन्द्रविहितमहाः' । सुरे-न्द्रैर्देवैर्दैर्बिहितः कृतो महः पूजा येषां ते सु० । इति संक्षेपेण गाथापञ्चकार्थः सुगमश्चायं ततो न विस्तरतया व्याख्याताः ॥६॥

अथ अविच्छिन्नपरंपरायां तं आसन्नोपकारकारिणं स्वकीयं युगप्रधानाष्टकं स्तोतुमाह-

पडिवज्जिअज्जिणदेवो, देवायरिओ दुरन्तभवहारी ।

सिरिनेमचन्द्रसूरी, उज्जोयणसूरिणो सुगुरु ॥७॥

व्याख्या-श्रीदेवाचार्यो जीयादिति शेषः । एवं जीयादिति क्रियापदं त्रिष्वपि कर्तृपदेषु योज्यम्, परं अध्या-हारात् । किंविशिष्टः श्रीदेवाचार्यः । 'पडिवज्जियजिणदेवो' प्रतिपन्नजिनदेवः प्रतिपन्नः अंगीकृतो जिनो वीत-रागो देवो येन सः प्र० । एतेन कुददर्शनिन आचार्यस्य त्यागेन जैनदर्शनस्थो जातः, इति सूचितं । तत-स्तत्पट्टे श्रीनेमचन्द्रसूरिर्जीयात् । किंविशिष्टः श्रीनेमचन्द्रसूरिः ? 'दुरन्तभवहारी' । दुर्दुष्टः अन्तो यय स दुरन्तः, स चासौ भवश्च संसारो दुरन्तभवः, तं हरतीत्येवं शीलो दुरन्तभवहारी । तत्पट्टे श्रीउद्योतनसूरि-र्जीयात् । सूत्रे बहुवचनं प्राकृतत्वात् । किंविशिष्टः श्रीउद्योतनसूरिः ? सुगुरुः-सु सुष्ठु शोभनो गुरुः यतश्चै-त्यवासात्यागेन सद्गुरुसमीपे उपसंग्रहणात् शुद्धचारित्री जीयात् ॥७॥

अथ श्रीवर्धमानसूरिस्तुतिमाह-

सिरिवद्धमाणसूरी, फयडीकयसूरिमेतंमाहण्यो ।

पडिहयकसयपसरो, सरयससेकुब्ब सुहजणओ ॥८॥

सुखसीलचोरचप्परणपच्चलो

१३

व्याख्या—तस्यै ‘श्रीवर्धमानसूरिः’ शरच्छाकवत् सुखजनको जीयात् । सुगमं । किंविशिष्टः श्रीवर्धमानसूरिः ? ‘पयडीकयसूरिमंत्रमाहण्यो’, प्रकटीकृतं सूरिमन्त्रस्य माहात्म्यं येन स प्रकटीकृतसूरिमन्त्रमाहात्म्यः । पुनः किंविशिष्टः श्रीवर्धमानसूरिः ? ‘प्रडिहयकसायपसरो’ प्रतिहतो दूरीकृतः कषायाणां क्रोधादीनां प्रसरो येन स प्रतिहतकषायप्रसरः, येन श्रीअर्बुदाचले षण्मासान् आचामाग्लकरणेन सूरिमन्त्रमुद्धकरणार्थं धरणेन्द्र आराधितः । तेनापि प्रत्यक्षीभूतेन सीमन्धरस्वामिपार्थं गत्वा सूरिमन्त्रं शुद्धं कारयित्वा आप्राप्त्य श्रीवर्धमानसूरये सूरिमन्त्रः ममर्पितः । ततो गच्छोन्नतिर्बभूवेति ‘पयडीकयसूरिमन्त्रमाहण्यो’ इति विशेषणस्य परमार्थः ॥८॥

अथ वसतिमार्गप्रकाशकं श्रीजिनेश्वरसूरिं गाथात्रयेण स्तुवन्नाह—

सुहसीलचोरचप्परणपच्चलो निच्चलो जिणमयंमि ।

जुगपवरसुद्धसिद्धंतजाणओ पणयसुगुणजणो ॥९॥

पुरओ दुल्लहमहिबल्लहस्स, अणहिल्लवाडए पयडं ।

मुक्का विचारिऊणं, सीहेण वच्चलिंगि गया ॥१०॥

वस्समच्छेरयनिसि विष्फुरंतसच्छंदसूरिमयतिमिरं ।

सूरेण व सूरिजिणेसरेण हयमहिअदोसेण ॥११॥

व्याख्या—यः श्रीजिनेश्वरसूरिः एवंविधः आसीत् । किंविशिष्टः जिनेश्वरसूरिः ? ‘सुहसीलचोरचप्परणपच्चलो’ । सुखसीला साधुवेषधारिणो द्रव्यलिंगिनः ते एव चौराः विश्वस्तभक्तलोकानां बोधिबीजरूपरत्नानां हरणात्, तेषां ‘चप्परणं’ निराकरणं तस्मिन् ‘पच्चलः’ समर्थः, तेषां मतस्य निर्लेठनात् । अत्र ‘चप्परण—निच्चल’शब्दौ देशीनाममालवचनौ । पुनः किंविशिष्टः श्रीजिनेश्वरसूरिः ? जिनमते निश्चलः भगवद्भाषितसिद्धान्ते यथोक्तक्रियाकरणे च स्थिरः । पुनः किंविशिष्टः श्रीजिनेश्वरसूरिः ? ‘जुगपवरसुद्धसिद्धंतजाणओ’ जुगप्रवरस्य जुगप्रधानस्य श्रीसुधर्मस्वामिनः शुद्धो निर्दोषो यः सिद्धान्तः तस्य ज्ञाता । पुनः किंविशिष्टः श्रीजिनेश्वरसूरिः ? ‘प्रणतसुगुणजनः’ प्रणताः सुगुणाः शोभनगुणवन्तो जना यस्य सः प्रणतसुगुणजनः ॥९॥ पुनर्येनेति शेषः अणहिल्लपाटके श्रीपत्तने नगरे दुर्लभमहीपतेर्दुर्लभनाम्नो राज्ञः पुरतः अग्रे द्रव्यलिंगिनः शिथिलाचाराः प्रत्युत्तरदानेन निराकृताः सन्तो मुक्ताः । किं कृत्वा ? ‘विचारिऊणं’ विचार्य अर्थान्तरे च द्रव्यलिंगिभिः समं वसतिवासस्थापनादिविचारं कृत्वा प्रकटं सर्वसमालोकसमक्षं, केन इव के ? यथा सिंहेन इव गजा विदार्थं मुक्ताः । ‘द्रव्यलिंगि’ इत्यत्र प्राकृतत्वाज्जस्रलोपो ज्ञेयः ॥१०॥ पुनर्येनेति अत्रापि शेषः येन सूरिजिनेश्वरेण सूरेण इव दशमाश्चर्यनिशि ‘विष्फुरत्स्वच्छन्दसूरिमयतिमिरं’ स्वच्छन्दाः स्वेच्छाचारिणो ये सूरयः चतुरशीति८४ संख्याश्चैत्यवासिनः तेषां मतं वसतिवासनिषेधादिकदाम्ग्रहरूपं तदेव तिमिरं अन्धकारं, विष्फुरच्च तत् स्वच्छन्दसूरिमयतिमिरं चेति विष्फुरत्स्वच्छन्दसूरिमयतिमिरम् । किंविशिष्टेन सूरिजिनेश्वरेण ? ‘अहितदोषेण’ अहिताः असमंता दोषा रागादयो यस्य स अहितदोषस्तेन अहितदोषेण, सूरपक्षे अहिता दोषा रात्रिर्यस्य सः अहितदोषः तेन अहितदोषेण । अत्रेदं रहस्यम्—श्रीपत्तननगरे श्रीदुर्लभराजसभायां अशीत्यधिकदशशतमितं (१०८०) वर्षं चैत्यवासिभिः समं वादं कृत्वा वसतिस्थापनापूर्वं अतिशयकठोरक्रियादर्शनपूर्वं च स्वरतरविरुद्धं प्राप्तं । एवं तपागच्छीयश्रीसोमसुन्दरसूरि—तच्छिष्य—महोपाध्याय—श्रीचारित्ररत्नगणि—तच्छिष्यश्रीसोमधर्मगणिविरचिते श्रीउपदेशसप्ततिग्रन्थे द्वितीयाधिकारे सप्तमोपदेशेऽपि प्रोक्तमस्ति ।

तद्यथा—“पुरा श्रीपत्तने राज्यं, कुर्वणे भीमभूफत्तौ, अभवन् भूतले स्थाताः, श्रीजिनेश्वरसूरयः ॥१॥ सूरयोऽभयदेवाख्यास्तेषां पट्टे दिदीमिरे । येभ्यः प्रतिष्ठाप्तापन्नो, गच्छः स्सत्तराग्गिभः ॥३॥ इति ॥११॥

(सूरेण इव=पृ. ३९-२४ अतोऽग्रे ‘सूर्येण इव दशमाश्चर्यनिशि विष्फुरत्स्वच्छन्दसूरिमयतिमिरं हतं’ इत्युक्तिः । अथ समासकरणेन अर्थः कथ्यते—सूरिश्चासौ जिनेश्वरश्च सूरिजिनेश्वरस्तेन सूरिजिनेश्वरेण, दशमं च तत् आश्चर्यं च=असंयतपूजालक्षणं तदेव निट्=निशि तस्यां (थावत् ‘दशमाश्चर्यनिशि)

४०

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

अथ श्रीजिनचन्द्रयतीश्वरं स्तुवन्नाह—

सुकइत्तपत्तकित्ती, पयडिअगुत्ती पसंतसुहमुत्ती ।

पह्यपरवाइदित्ती, जिणचंदजईसरो मंती ॥१२॥

व्याख्या—जिनेश्वरसूरीणां पट्टे जातः श्रीजिनचन्द्रयतीश्वरो जीयादिति शेषः । किंविशिष्टो जिनचन्द्रयतीश्वरः ? । ‘सुकवित्त्वप्राप्तकीर्तिः’ सुकवित्वेन संवेगरंगशालादिग्रन्थकरत्वेन प्राप्ता कीर्तिर्येन सः । पुनः किंविशिष्टो जिनः । ‘प्रकटितगुप्तिः’ प्रकटिता भव्येभ्यः (अग्रे) प्रकाशिता गुप्तयो मनोवाक्कायगुप्तयो येन सः प्र० । पुनः किंविशिष्टो जिनः । ‘प्रशान्तशुभमूर्तिः’ प्रशान्ता कषायरहिता शुभा द्वात्रिंशत्पुरुषलक्षणसहिता मूर्तिस्तनुर्यस्य सः प्र० । पुनः किंविशिष्टो जिनः । ‘प्रहृतपरवादिदीप्तिः’ प्रहृता निरस्ता परवादिनां दीप्तिस्तेजो येन सः प्र० । पुनः किंविशिष्टो जिनः ? मंत्री मंत्राः सूरिमन्त्रादयो विद्यन्ते यस्य सः मंत्री । द्वितीयपक्षे मन्त्री अमात्यो जीयात् । मन्त्रा राज्यनिर्वाहकारका आलोचना विद्यन्ते यस्य सः मन्त्री । किंविशिष्टो मन्त्री ? सुकृतिवित्त्वप्राप्तकीर्तिः सुकृतिवित्वेन राजनीत्यां या स्थितिः प्रोक्ता तस्याः करणत्वेन प्राप्ता कीर्तिर्येन सः । पुनः किंविशिष्टो मन्त्री ? ‘प्रकटितगुप्तिः’ प्रकटिता—विस्तारिता गुप्तिः प्रजानां गोपनं रक्षारक्षणं येन सः प्र० । पुनः किंविशिष्टो मन्त्री ? ‘प्रशान्तशुभमूर्तिः’ प्रशान्ता सौम्या शुभा अक्रूरा मूर्तिर्यस्य सः प्र० । पुनः किंविशिष्टो मन्त्री ? प्रहृता अपास्ता परदेशीयानां राज्ञां दीप्तिः प्रगल्भता येन सः प्र० । अयं श्लेषालंकारः ॥१२॥

अथ नवांगीवृत्तिकारकं श्रीअभयदेवसूरिं गाथाद्वयेन स्तुवन्नाह—

पयडिअनवअंगसुत्तत्थरणकोसो पणासियपओसो ।

भवभीयभविअजणमणकयसंतोसो विगयदोसो ॥१३॥

जुगपवरागमसारपरूवणाकरणबंधुरो धणियं ।

सिरिअभयदेवसूरी, मुणिपवरो परमपसमधरो ॥१४॥

व्याख्या—श्रीजिनचन्द्रसूरिपट्टे श्रीअभयदेवसूरिः जीयादिति शेषः । किंविशिष्टः अभयदेवसूरिः ? ‘पयडिअनवअंगसुत्तत्थरणकोसो’ प्रकटितः प्रकटीकृतः नवांगानां स्थानांगादीनां सूत्रार्था एव रत्नानि तेषां कोषो भांडारो येन सः प्र० । नवांगीवृत्तिकरणात् । पुनः किंविशिष्टः श्रीअभयदेवसूरिः ? प्रणाशितः प्रद्वेषो येन सः प्र० । पुनः किंविशिष्टः श्रीअभयदेवसूरिः ‘भवभीयभविअजणमणकयसंतोसो’ भवात् संसारात् भीता ये भव्यजनास्तेषां मनसि कृतः जनितः संतोषो येन सः भ० सिद्धान्ताथामृतश्रावणेन । पुनः किंविशिष्टः श्रीअभयदेवसूरिः ? ‘विगतदोषो’ विगता दोषा यस्मात् स विगतदोषः आचामाग्लादिदुष्करतपकरणेन शुद्धचारित्रपालनात् । पुनः किंविशिष्टः श्रीअभयदेवसूरिः ? ‘युगपवरागमसारपरूपणाकरणबन्धुरः’ युगे प्रवरा ये आगमा आचारांगादयस्तेषां सारप्ररूपणा शुद्धप्ररूपणा तस्याः करणं तेन बन्धुरो मनोहरो ‘धणियं’ अत्यर्थं । ‘धणियं’ शब्दः अत्यर्थं देशीयः । पुनः किंविशिष्टः श्रीअभयदेवसूरिः ? ‘मुणिपवरो’ मुनिषु पवरो नवांगीवृत्तिकरणेन महागीतार्थत्वात् । पुनः किंविशिष्टः श्रीअभयदेवसूरिः ? ‘परमप्रशमधरः’ परमं प्रशमं उपशमं धरतीति परमप्रशमधरः, इति गाथाद्वयार्थः ॥१३—१४॥

अथ स्वगुरुं श्रीजिनवल्लभसूरिं गाथाद्वयेन स्तुवन्नाह—

कयसावयसत्तासो, हरिन्व सारंगभगसंदहे ।

गयसमयदप्पवल्लणो, आसाइयपवरकन्वरसो ॥१५॥

सप्तस्मरणस्तवः ।

४१

**भीमभवकाणंभि अ, वंसिअगुरुवचणरयणसंदोहो ।
नीसेससत्तगुरुओ, सूरी जिणवल्लहो जयइ ॥१६॥**

व्याख्या—जिनवल्लभसूरिः हरिवत् सिंहवत् भीमभवकानने जयति । सर्वोत्कर्षेण वर्तते । भीमो—रौद्रो भय एव संसार एव काननं तस्मिन् भीमभवकानने । पूर्वं गुरुपक्षे वर्णनं—किं० जिनवल्लभः ? कृतश्रावकसत्याशः कृताः श्रावकाणां सत्या शोभना आशा मनोरथाः सुखधर्मनिर्वाहादिका येन सः कृतः० पुनः किंवि० 'सारांगभग्न-संदेहः' साराणि प्रधानानि यानि अंगानि आचारांगादीनि तैर्भग्नाः स्फेडिता सन्देहाः संशया देवगुरुत्वविषया येन सः । पुनः किं० जिनवल्लभसूरिः ? 'गतसमयदर्पदलनः' गतो अष्टः समयः सिद्धान्तो येभ्यः ते गतसमयाः तेषां दर्प औद्धत्यं दलयतीति गतः० । पुनः किंविशिष्टो जिनवल्लभसूरिः ? आस्वादितप्रवरकाव्यरसः आस्वादितः प्रवरः प्रधानः काव्यानां रसो येन सः आ० महाकविवात् । पुनः किं० जिनवल्लभसूरिः ? 'दर्शितगुरुवचन-रत्नसन्दोहः' दर्शितो गुरुवचनान्येव रत्नानि तेषां गुरुवचनानां संदोहः समूहो येन सः दर्शितः० । पुनः किं० 'निःशेषसत्त्वगुरुकः' निःशेषसत्त्वेषु गुरुकः जगत्पूज्यत्वात् । हरिपक्षे तु एवं व्याख्या—किंवि० हरिः ? कृतश्रा-पदसंज्ञासः, कृतः श्रापदानां मृगगजानां त्रासो येन सः कृतः० । पुनः किं० हरिः ? सारंगभग्नदेहः सारंगाणां मृगाणां भग्नाः सं सम्यक् देहाः शरीराणि येन सः सा० । पुनः किंविशिष्टो हरिः ? 'गजसमदर्पदलनः' सह मदेन वर्तते ये ते समदाः । समदाश्च ते गजाश्च समदगजास्तेषां दर्पस्य दलनः प्राकृतत्वेन विशेषणव्यत्ययो न दोषाय । पुनः किं० हरिः ? 'आस्वादितप्रवरकाव्यरसः' आस्वादितः प्रवरः प्रधानः काव्यस्य मांसस्य रसो येन सः आ० । पुनः किंवि० हरिः ? 'दर्शितगुरुवचनरदनसन्दोहः' दर्शितः—प्रकटीकृत गुरुवचने प्रसारित-त्वात् बृहन्मुखे रदनानां सन्दोहः समूहो येन सः दर्शितः० पुनः किंवि० हरिः ? 'निःशेषसत्त्वगुरुकः' निःशेष-सत्त्वेषु समस्तप्राणिषु गुरुको गरिष्ठः नि० । अत्र श्लेषालंकारः, इति गाथाद्वयार्थः ॥१६॥

पुनः श्रीजिनवल्लभसूरिमेव गाथाद्वयेन अष्टापदोपमानेन स्तुवन्नाह—

**उवरिट्ठिअसच्चरणो, चउरणुओगप्पहाणसच्चरणो ।
असममयरायमहणो, उड्डुमुहो सहइ जस्स करो ॥१७॥
दंसियनिम्मलनिच्चल,—दंतगणोऽगणिअसावउत्थमओ ।
गुरुगिरिगुरुओ सरहव्व, सूरी जिणवल्लहो होत्था ॥१८॥**

व्याख्या—सूरिः जिनवल्लभः 'होत्था' इति अभवत् । क इव ? शरभ इव अष्टापद इव । तत्र प्रथमं गुरुवर्ण-नमाह—किंविशिष्टः जिनवल्लभसूरिः ? 'उपरिस्थितसच्चरणः' उपरिस्थितं सर्वेभ्य उपरिस्थितं सर्वोत्तमत्वात् सत्-प्रधानं चरणं चारित्रं यस्य स उपरिस्थितसच्चरणः । पुनः किंविशिष्टः जिनवल्लभसूरिः ? चतुरनुयोगप्रधानसच्चरणः, चत्वारो ये अनुयोगाः द्रव्यानुयोग १ कालानुयोग २ गणितानुयोग ३ धर्मानुयोग ४ नामानः, तैः प्रधानं निरवयवं संचरणं प्रवर्तनं यस्य स चतु० । पुनः किंविशिष्टः जिनवल्लभसूरिः ? 'असममदराजमहनः' । असमो मदो गर्वो येषां ते असममदा गर्वोद्धता ये राजानः तैः कृतं महनं पूजनं यस्य सः असम० । अथवा अशमः क्रोधः, मदः अहंकारः, रागः स्यादिषु अभिष्वंगस्तेषां मथनः असममदराजमथनः । सः कः ? यस्य गुरोः करो हस्तः सहति शोभते । किंविशिष्टः करः ? । ऊर्ध्वमुख उच्चैर्मुखो व्याख्यानसमये मुक्तिमार्ग-दर्शनेन । पुनः किंविशिष्टः जिनवल्लभसूरिः ? दर्शितनिर्मलनिश्चलदान्तगणः दर्शितो निर्मलो निष्पापो निश्चलः सम्यक्प्रतपालनपरो दान्तानां दमवतां सधूनां गणः समूहो येन सः दर्शि० सुसाधुजनपरिवृतत्वात् । पुनः किंविशिष्टः जिनवल्लभसूरिः ? 'अगाणितश्रावकोत्थमयः' अगाणितं श्रावकोभ्य उत्थं भयं येन स अग० । पुनः

स०६

४२

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

किंविशिष्टः जिनवल्लभसूरिः ? 'गुरुगिरिगुरुकः' गुर्वी गरिष्ठा गीर्वाणी गुरुगीस्तस्या गुरुर्गरिष्ठः स्वप्रतिज्ञाया निर्वाहकत्वात् । अथ शरभवर्णनमाह—किंविशिष्टः शरभः ? उपरिस्थितसच्चरणः उपरि पृष्ठस्य ऊर्ध्वं स्थिता सन्तो विद्यमानाः चरणा पादा यस्य सः उपरिस्थितसच्चरणः । पुनः किंविशिष्टः शरभः ? 'चतुरणुजोगपहाण-सच्चरणो' चत्वारः अनुयोगेन प्रधानाः सन्तः चरणा पादा यस्य स चतुरनुयोगप्रधानसच्चरणः । अथवा चतुरैः चातुर्ययुक्तैः अनुयोगैः सन्तः प्रधानाश्चरणाः पादा यस्य सः च० । पुनः किंविशिष्टः शरभः ? अस-ममृगराजमथनः, असमा असाधारणा ये मृगराजाः सिंहाः तेषां मथनो हन्ता । सः कः ? यस्य शरभस्य करः झुंदादण्डः शोभते । किंविशिष्टः करः ? ऊर्ध्वमुखः लीलावशात् ऊर्ध्वं उल्ललितः । पुनः किंविशिष्टः शरभः ? दर्शितनिर्मलनिश्चलदन्तगणः । दर्शितः प्रकटितो निर्मलः शुभ्रो निश्चलः स्थिरो दन्तानां गणः समूहो येन सः दर्शित० चतुर्दन्तत्वात्तस्य । पुनः किंविशिष्टः शरभः ? अगणितश्चापदोत्यभयः, अगणितं आपदेभ्यः उत्थं भयं येन सः अग० । पुनः किंविशिष्टः शरभः ? गुरुगिरिगुरुकः—गुरुगिरिवत् उन्नतपर्वतवत् गुरुको गरिष्ठः उच्चैस्तरत्वात् । अत्रापि श्लेषालंकारः ॥१८॥

अथ पुनरपि स्वगुरोर्गुणोच्चारपूर्वकं वंदनामाह—

जुगपवरागमपीऊ,—सपाणपीणिअमणा कया भव्वा ।

जेण जिणवल्लहेणं, गुरुणा तं सच्चहा वंदे ॥१९॥

व्याख्या—अहं इति शेषः । तं गुरुं सर्वथा मनोवाकाय योगैर्वंदे, तं कं ? येन जिनवल्लभेन गुरुणा भव्याः युगप्रवरागमपीयूषपानप्रीणितमर्नसः कृताः युगप्रवराणां आगमानां पीयूषपानं अमृतपानं तेन प्रीणितानि वृत्ती-कृतानि मनांसि येषां ते यु० । प्राकृतवशात् सलोपः ॥१९॥

अथ सर्वसंघभारक्षमं गुरुं प्रति आशीर्वादं गाथाद्वयेन आह—

विस्फुरिअपवरपवयण, शिरोमणी वृद्धदुव्वह्वमो य ।

जो सेसाणं सेसु व्व, सहइ सत्ताण ताणकरो ॥२०॥

सच्चरिआणमहीणं, सुगुरूणं पारतंतमुव्वहइ ।

जयइ जिणदत्तसूरी, सिरिनिलओ पणयमुणितिलओ ॥२१॥

व्याख्या—यो गुरुः शोभते, किंविशिष्टो यः ? 'विस्फुरितप्रवरप्रवचनशिरोमणिः' विस्फुरितं विस्तृतं प्रवरं प्रधानं प्रवचनं सिद्धान्तो येषां ते विस्फुरितप्रवरप्रवचनाः सिद्धान्तवेत्तारः तेषु शिरोमणिरिव शिरोमणिः सातिशय-त्वात् । पुनः किंविशिष्टो यः ? व्यूढदुर्वहक्षमः, व्यूढा दुर्वहा क्षमा येन सः व्यूढ० । पुनः शेषाणां आचार्याणां शेष इव तदाकालवर्तिनां आचार्याणां सर्वेषां पूज्यत्वात् । पुनः किंविशिष्टो यः ? सत्त्वानां प्राणिनां त्राणकरः रक्षाकरः ॥२०॥ सः जयति कुतीर्थ्यादि निराकरणेन सर्वोत्कर्षेण वर्तते । स कः ? यः सुगुरूणां पूर्वोक्तानां पारतन्त्र्यं उद्बहति धारयति । किंविशिष्टानां सुगुरूणां ? सच्चरित्राणां प्रधानचारित्राणां । किंविशिष्टं पारतन्त्र्यं ? अहीनं सम्पूर्णम् । कीदृशो यः ? जिनदत्तसूरिः, जिनैस्तीर्थकरैर्दत्तो धातूनामनेकार्थत्वात् दर्शितः कथितः सर्व-गुणसहितः स चासौ सूरिर्जिनदत्तसूरिः । किंविशिष्टः यः ? श्रीनिलयः लक्ष्मीगृहम् । पुनः किंविशिष्टः यः ? प्रणतमुनितिलकः, प्रणता ये मुनयस्तेषु तिलकः । अत्र श्रीजिनदत्तसूरिरिति स्वकीयनामापि सूचितम् ॥२१॥

मयरहिअवृत्तिमेनां, कृत्वा श्रीसमयसुन्दरो बूते ।

सुगुरुजिनपारतन्त्र्यं, करोतु मम विघ्नसंहारम् ॥

॥ इति मयरहिअवृत्तिः सम्पूर्णा ॥५॥

सप्तस्मरणस्तवः ।

४३

षष्ठं स्मरणम्

सिग्धमवहरउ विग्धं, षष्ठं स्मरणं यदस्ति तद्वृत्तं ।

खरतरगणप्रसिद्धं, समयादिसुन्दरः कुरुते ॥१॥

सिग्धमवहरउ विग्धं, जिणवीराणानुगामिसंघस्स ।

सिरिपासजिणो थंभण, -पुरट्ठिओ णिट्ठियाणिट्ठो ॥१॥

व्याख्या—श्रीपार्श्वजिनः जिनवीराणानुगामिसंघस्य विघ्नं शीघ्रं हरतु । जिनवीरस्य आज्ञा जिनवीराणां तस्या अनुगामी यः संघः तस्य जिनवीराणानुगामिसंघस्य । किंविशिष्टः श्रीपार्श्वजिनः ? स्तंभनपुरस्थितः, स्तंभनपुरे स्थितः स्तम्भनपुरस्थितः । पुनः किंविशिष्टः श्रीपार्श्वः ? निष्ठितानिष्टः निष्ठितानि क्षयं नीतानि अनिष्टानि अनभिमतानि येन सः निष्ठितानिष्टः ॥१॥

गोअमसुहम्मपमुहा, गणवइणो विहिअभव्वसत्तमुहा ।

सिरिवद्धमाणजिणितित्थसुत्थयं ते कुणंतु सया ॥२॥

व्याख्या—ते गणपतयो गणधराः सदा सर्वदा श्रीवर्धमानजिनतीर्थस्य सुस्थतां निरुपद्रवतां कुर्वन्तु । श्रीवर्द्धमानजिनस्य तीर्थं श्रीवर्द्धमानजिनतीर्थं तस्य सुस्थता निरुपद्रवता ताम् । किंविशिष्टाः गणपतयः ? गौतमसुधर्मौ प्रमुख आदिर्येषां ते गौतमसुधर्मप्रमुखाः । किंविशिष्टा गणप० विहितमव्यसत्त्वसुखाः विहितं कृतं मव्यसत्त्वानां सुखं यैस्ते विहितमव्यसत्त्वसुखाः ॥२॥

सक्काइणो सुरा जे, जिणवेयावच्चकारिणो सन्ति ।

अवहरियविग्घसंघा, हवंतु ते संघसंतिकरा ॥३॥

व्याख्या—ये शक्रादयः सुरा जिनवैयावृत्यकारिणः सन्ति, ते सुराः संघशान्तिकरा भवन्तु । शक्र आदिर्येषां ते शक्रादयः । जिनस्य वैयावृत्यं जिनवैयावृत्यं तस्य कारिणः कर्तारः जिनवैयावृत्यकारिणः । किंविशिष्टाः सुराः ? अपहृतविग्रसंघाः, अपहृतो दूरीकृतो विघ्नानां अन्तरायाणां संघः समूहो यैस्ते अप० । संघस्य शान्तिः संघशान्तिः तां कुर्वन्तीति संघशान्तिकराः ॥३॥

सिरिथंभणट्ठिअपाससामिपयपउमपणयपाणीणं ।

निइलियदुरियवंदो, धरणिंदो हरउ दुरिआइं ॥४॥

व्याख्या—धरणेन्द्रः श्रीस्तंभनस्थितपार्श्वस्वामिपदपद्मप्रणतप्राणिनां दुरितानि हरतु, श्रीस्तंभननामग्रामे स्थितो यः पार्श्वस्वामी श्रीअभयदेवसूरिप्रकटितमूर्तिरूपः, तस्य पदपद्मे चरणकमले तत्र प्रणता ये प्राणिनस्तेषां श्रीस्तंभ० । किंविशिष्टः धरणेन्द्रः ? निर्दलितदुरितवृन्दः, निर्दलितं दुरितानां वृन्दं समूहो येन स नि० ॥४॥

गोमुहपमुखजक्खा, पडिहयपडिक्खपक्खलक्खा ते ।

कयसगुणसंघरक्खा, हवंतु संपत्तसिक्खसुक्खा ॥५॥

व्याख्या—ते गोमुखप्रमुखयक्षाः कृतसगुणसंघरक्षाः भवन्तु । गोमुखः प्रमुख आदिर्येषां ते गोमुखप्रमुखाः, गोमुखप्रमुखाश्च ते यक्षाश्च गोमुखप्रमुखयक्षाः । किंविशिष्टा यक्षाः ? 'प्रतिहतप्रतिपक्षपक्षलक्षाः' प्रतिहतं प्रतिपक्षाणां प्रतिवादिनां पक्षलक्षं यैस्ते प्र० । कृता सगुणस्य गुणसहितस्य संघस्य रक्षा यैस्ते कृत० । पुनः

४४

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

किंविशिष्टा यक्षाः ? संप्राप्तशिवसौख्याः, संप्राप्तं शिवसौख्यं कल्याणमुखं यैस्ते सं० । अथवा भाविनि भूतो-
पचारात् संप्राप्तं संप्राप्यमानं शिवस्य मोक्षस्य सौख्यं येषां ते सं० । भगवत्सेवाकरणेन शुद्धसम्यक्वधरणेन
संधवैयावृत्याचरणेन च आसनसिद्धिगामित्वात्तेषाम् ॥५॥

अप्पडिचक्कापमुहा, जिणसासनदेवयावि जिणपणया ।**सिद्धाहआसमेआ, हवंतु संघस्स विग्घहरा ॥६॥**

व्याख्या—जिनशासनदेवता अपि संघस्य विग्घहरा विघ्नविनाशका भवन्तु । किंविशिष्टा जिनशासनदे-
वताः ? अप्रतिचक्रा प्रमुख आदिर्यासु ताः अप्रतिचक्रा० । पुनः किंविशिष्टा जिनशासनदेवताः ? जिनप्र-
णताः, जिनं तीर्थकरं प्रणताः । पुनः किंविशिष्टा जिन० ? सिद्धायिकासमेताः, सिद्धायिकया देव्या समेताः
सहिताः ॥६॥

सक्काएसा सच्चउरपुरट्टिओ वद्धमाणजिणभत्तो ।**सिरिबभंसतिजक्खो, रक्खउ संघं पयत्तेण ॥७॥**

व्याख्या—श्रीब्रह्मशान्तियक्षः संघं प्रयत्नेन रक्षतु । किंविशिष्टः श्रीब्र० शक्रादेशात्—इन्द्रादेशात् ‘सत्य-
पुरे’ साचोरनामनगरे स्थितः, सत्यपुरनगरवर्तमान—श्रीमहावीरदेवमूर्तेः इन्द्रस्य आदेशेन अधिष्टायको जातो
ब्रह्मशान्तियक्षः । अत्रार्थे सम्बन्धस्तु लघुखरतरगच्छीय—श्रीजिनरत्नप्रभसुरिकृतप्रतिष्ठाकल्पतो ज्ञेयः । पुनः किं-
विशिष्टो ब्रह्मशान्तियक्षः ? वर्द्धमानजिनभक्तः वर्धमानजिनस्य भक्तो वर्धमानजिनभक्तः ॥७॥

वित्तगिहगुत्तसंताणदेसदेवावि देवया ताओ ।**निव्वुइपुरपहिआणं, भव्वाण कुणंतु सुक्खाणि ॥८॥**

व्याख्या—क्षेत्र १ गृह २ गोत्र ३ सन्तान ४ देश ५ देवा अपि पुनर्देवताश्च क्षेत्रादिसम्बन्धिन्यः
भव्यानां सौख्यानि कुर्वन्तु, इत्युक्तिः । क्षेत्राणि च गृहाणि च गोत्राणि च सन्तानानि च देशाश्च क्षेत्रगृहगोत्रस-
न्तानदेशास्तेषां देवा देव्यश्च । किं विशिष्टानां भव्यानां निर्वृतिपुरपथिकानां, निर्वृतिः यो मोक्षः स एव पुरं
निर्वृतिपुरं मोक्षनगरं तस्मै गमनाय ये पथिकास्तेषाम् ॥८॥

चक्केसरी चक्रधरा, विहिपहरिउछिन्नकंधरा धणिअं ।**सिवसरणिलग्नसंघस्स सव्वहा हरउ विग्घाणि ॥९॥**

व्याख्या—चक्रेश्वरी देवी शिवसरणिलग्नसंघस्य विघ्नानि सर्वथा सर्वप्रकारेण हरतु दूरीकरोतु, ‘शिवस्य’
मोक्षस्य ‘सरणि’ मार्गिस्तत्र लग्नो यः संघः शिवसरणिलग्नसंघस्तस्य शिव० । किंविशिष्टा चक्रेश्वरी ? चक्रधरा
चक्रं हस्ते शस्त्रं धरतीति चक्रधरा । पुनः किंविशिष्टा चक्रेश्वरी ‘विधिपथरिपुछिन्नकंधरा’ विधिपथस्य सुविहित-
मार्गस्य ये रिपवो मिथ्यात्ववैरिणस्तेषां छिन्ना कन्धरा ग्रीवा यया सा विधि० धणिअं अत्यर्थम् ॥९॥

तित्थवइचद्धमाणो, जिणेसरो संगओ सुसंघेण ।**जिणचंदोऽभयदेवो, रक्खउ जिणवल्लहो पट्टु मं ॥१०॥**

व्याख्या—‘तीर्थपतिवर्धमानो’ मां प्रति रक्षतु, इत्युक्तिः । तीर्थपतिश्चासौ वर्धमानश्च तीर्थपतिवर्धमानः ।
किंविशिष्टः तीर्थपति० ? ‘जिनेश्वरः’ जिनानां सामान्यकेवलानां ईश्वरः स्वामी । पुनः किंविशिष्टः तीर्थपतिः ?
‘सुसंघेन’ सु सुष्ठु संघेन संगतः सहितः । पुनः किं० तीर्थपतिः ? जिनचन्द्रः, जिनेषु सामान्यकेवलेषु चन्द्र
इव चन्द्र आह्लादकत्वात् । पुनः किंविशिष्टः तीर्थपतिः ? अभयदेवः, न विघ्ने भयं यस्य स अभयः, अभयश्चासौ

सप्तस्मरणस्तवः ।

४५

देवश्च अभयदेवः । पुनः किंविशिष्टः तीर्थपतिः ? 'जिनवल्लभः' जिनानां सामान्यकेवलानां वल्लभो जिनवल्लभः । अत्र द्वयर्थच्छायाया श्रीवर्धमान-१-जिनेश्वर-२-जिनचन्द्र-३-अभयदेव-४-जिनवल्लभ-नामानः ५ श्रीखरतर-गच्छपट्टधारका अपि ज्ञेयाः ॥१०॥

सो जयउ वद्धमाणो, जिणेसरो णेसरुव्व हयतिमिरो ।

जिणचंदाभयदेवा, पट्टणो जिणवल्लहा जे उ ॥११॥

व्याख्या-सः वर्धमानो गुरुर्जयतु । पुनः जिनेश्वरो गुरुरपि जयतु । किं विशिष्टो जिनेश्वरः ? 'णेशरुव्व' जिनेश्वरवत् सूर्यवत् इततिमिरः इतं तिमिरं अज्ञानांधकारं येन स इततिमिरः, एवं वर्धमानगुरुणा अपि समं विशेषणं योज्यं । पुनः यौ जिनचन्द्राभयदेवौ 'प्राकृतत्वाद् द्विवचने बहुवचनम् । पुनर्जिनवल्लभाश्च प्रभवः, अयं भावः-जिनचन्द्राभयदेवजिनवल्लभा अपि प्रभवः स्वामिनो जयन्तु ॥११॥

गुरुजिणवल्लहपाए, -भयदेवपट्टत्तदायगे वंदे ।

जिणचंदजईसरवद्धमाणतित्थस्स बुद्धिकए ॥१२॥

व्याख्या-अहं इति शेषः । गुरुजिनवल्लभपादौ वन्दे । किं विशिष्टौ गुरुजिनवल्लभपादौ ? अभयदेवप्रभुत्वदायकौ । अमयं भयाभावः देवानां प्रभुवं च अभयदेवप्रभुत्वे तयोर्दायकौ । पक्षे अभयदेवं गुरुं अपि वन्दे । किमर्थं वन्दे ? इत्याह-जिनचन्द्रयतीश्वरवर्धमानतीर्थस्य वृद्धिकृते' जिनचन्द्रश्चासौ यतीश्वरश्च यो वर्धमानश्च श्रीमहावीरस्तस्य तीर्थं, तस्य वृद्धिकृते-उन्नतिनिमित्तम् । पक्षे जिनचन्द्र-वर्धमानगुरु अपि वन्दे । गाथात्रये अर्थद्वयं तीर्थकरपक्षे गुरुपक्षे च यथासंभवं स्वबुद्ध्या योजनीयं, वृत्त्यादौ तु न तादृक् कुत्रापि व्याख्यातमस्ति ॥१२॥

जिणदत्ताणं सम्मं मच्चंति कुणंति जे उ कारंति ।

मणसा वयसा वडसा, जयंतु साहम्मिआ तेऽवि ॥१३॥

व्याख्या-'तेऽपि' साधर्मिकाः शक्राद्या जयन्तु । समानो धर्मो येषां ते साधर्मिकाः, देवः श्रीवीररागः १ गुरुः सुसाधुः २ धर्मः केवलिप्रणीतः ३ इति तत्त्वत्रयं आश्रित्य । ते के साधर्मिकाः ? ये जिनदत्ताज्ञां जिनैस्तीर्थकरैर्या दत्ता आज्ञा जिनदत्ताज्ञा तां प्रति सम्यक् मन्यन्ते, तथा सम्यक् कुर्वन्ति, तथा सम्यक् अन्यान् प्रति कारयन्ति, केन ? मनसा पुनर्वचसा पुनर्वपुषा कायेन ॥१३॥

जिणदत्तगुणे नाणाहणो सया जे धरंति धारंति ।

वंसिअसियवायपए नमामि साहम्मिया तेवि ॥१४॥

व्याख्या-तानपि साधर्मिकान् अहं नमामि । किंविशिष्टान् साधर्मिकान् ? दर्शितस्याद्वादपदान् दर्शितानि स्याद्वादस्य पदानि यैस्ते दर्शितस्याद्वादपदास्तान् द० । तान् कान् ? ये जिनदत्तगुणान् जिनैस्तीर्थकरैर्देवता गुणास्तान् जिनदत्तगुणान् ज्ञानादीन् सदा धरन्ति पुनरन्यान् प्रति धारयन्तीति ॥१४॥

सिग्धमवरहरउ विग्धं । षष्ठं स्मरणं मयाऽतिसंक्षेपात् ।

गणिसमयसुन्दरेण, व्याख्यातं हरतु मे दुरितम् ॥१५॥

॥ इति सिग्धमवरहरउवृत्तिः सम्पूर्णा ॥६॥

४६

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

॥ सप्तमं स्मरणम् ॥

उपसर्गहरस्तोत्रं, कृतं श्रीभद्रबाहुना ।

तस्यवृत्तिं करिष्यामि, ब्रूते समयसुन्दरः ॥१॥

पूर्वं एतस्य स्तोत्रस्य उत्पत्तिः कथ्यते—श्रीआर्यसंभूतिविजयसूरिपार्श्वे द्वौ भ्रातरौ वराहमिहिर—१ भद्रबाहु-
२ नामानौ दीक्षां जगृहयुः । तौ गीतार्थौ जातौ चतुर्दशपूर्वाण्यपि अधीतानि । अन्यदा श्रीआर्यसंभूतविजय-
सूरयो योग्यतां ज्ञात्वा स्वकीयगच्छभारं श्रीभद्रबाहुस्वामिनि स्थापयित्वा स्वयं अनशनं कृत्वा समाधिना कालं
कृत्वा स्वर्गं जग्मुः । श्रीभद्रबाहुस्वामिनश्च अप्रतिबद्धविहारेण विहारं कुर्वन्तो भव्यजीवान् प्रतिबोधयामासुः ।
अस्मिन् अवसरे वराहमिहिरसाधुः प्रद्वेषं प्राप्तः, अहो मम गच्छभारो न दत्तो गुरुणा, ततो मिथ्यात्वोदयात्
सम्यक्त्वं वात्वा अज्ञानतपःकथानुष्ठानेन प्रस्तावेः कालं कृत्वा व्यन्तरो जातः । ततो विभंगज्ञानेन पूर्वभवं
स्मृत्वा अर्हत्प्रवचने जातप्रद्वेषः अप्रमत्तसाधुषु उपद्रवं कर्तुमक्षमः सन् सर्प इव छिद्राणि पश्यन् प्रमादतया
क्रियानुष्ठानरहितेषु श्रावकेषु छलं प्राप्य रोगादीनि उपसर्गान् कर्तुं प्रारभे । श्राद्धैरपि दुष्टव्यन्तरस्वरूपं ज्ञात्वा
स्वयं तनिवारणे असमर्थः श्रीभद्रबाहुस्वामी विज्ञतः । श्रीभद्रबाहुस्वामिनापि चतुर्दशपूर्वाणां अतिशयेन ज्ञातो
दुष्टवराहमिहिरव्यन्तरकृत उपद्रवः । ततः संघस्य उपकाराय इदं स्तोत्रं चक्रे । ततः सर्वोऽपि संघः प्रतिनगरं
प्रतिग्रामं प्रतिगृहं पठति स्म । तत्प्रबलप्रभावात् व्यन्तरो नष्टा गतः । संघश्च निरुपद्रवो धर्मपरायणश्च जातः ।
इदं स्तोत्रं च महाप्रभावम् । इदं स्तोत्रं योऽष्टोत्तरशतवारान् जपति तस्य विघ्ना दूरं नश्यन्ति १, सर्वसिद्धयश्च
संपद्यन्ते, तत्स्तोत्रं च इदम्—

उपसर्गहरपासं, पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं ।

विसहरविसनिघासं, मंगलकल्लाणआवासं ॥१॥

व्याख्या—अहमिति शेषः, 'पार्श्व' श्रीपार्श्वनाथं 'वन्दे' स्तवामि इत्युक्तिः । किंविशिष्टं पार्श्वं ? 'उपसर्ग-
हरं पार्श्वं' उपसर्गाः दिव्य १ मानुष २ तैरश्वा—३ ऽऽस्मीयवेदनीय ४ भेदाच्चतुर्विधाः तान् हरतीति उपसर्गहरः
एवंविधः पार्श्वः पार्श्वनामा यक्षोऽधिष्ठायको यस्य स उपसर्गहरपार्श्वस्तम् । अत्र रवर्णमस्तकस्थोऽनुस्वार
आर्षत्वात् अलाक्षणिकः । यथा "देवंनागमुवन्नकिनरे" त्यादि १ । अथवा किंविशिष्टं पार्श्वं ? उपसर्गहरा
धरणेन्द्रादयः पार्श्वे समीपे यस्य स उपसर्गहरपार्श्वः तं । कथं ? धरणेन्द्रादीनां निरन्तरं श्रीपार्श्वस्य संहितवर्ति-
त्वात् २ । अथवा 'उपसर्गहरं' इति पार्श्वनाथस्य पृथक् विशेषणं । किंविशिष्टं पार्श्वं ? 'पश्यं', पश्यति कालत्रय-
वर्तमानं वस्तुसमूहं इति पश्यः, तं पश्यं ३ । अथवा किंविशिष्टं पार्श्वं ? प्राशं प्रगता आशाः कस्यापि वस्तुनः
आकांक्षा यस्मात् सः प्राशः तं प्राशं ४, इति अर्थचतुष्टयं ज्ञेयम् । पुनः किंविशिष्टं पार्श्वं ? 'कर्मघनमुक्कम्'
कर्मणि ज्ञानावरणीयादीनि अष्ट तानि घना इव घना मेघाः कर्मघनाः, अयं भावः—जीवः चन्द्रः, कर्माणि
मेघपटलानि तानि ज्ञानरूपकिरणान् आच्छादयन्ति ततः कर्मणां मेघोपमा दत्ता, तेभ्यः कर्मघनेभ्यो मुक्तः कर्मघन-
मुक्तस्तं । अथवा किंविशिष्टं पार्श्वं ? प्राकृतत्वेन आर्षप्रयोगाद्वा विशेषणस्य परनिपातात् घनकर्ममुक्तं, घनानि
दीर्घकालस्थितिकानि बहुप्रदेशाग्राणि वा यानि कर्माणि घनकर्माणि तैर्मुक्तम् उत्पन्नकेवलज्ञानमित्यर्थः । पुनः किं-
विशिष्टं पार्श्वं ? 'विषधरविषनिर्नाशं' विषधराः अनन्त-वासुकि-कर्कोट-पद्म-महापद्म-शंखादयः तेषां विषं पार्थि-
वादिभेदभिन्नं निर्नाशयतीति निश्चितं अपहरतीति विषधरविषनिर्नाशस्तं वि० । यतो भगवन्नाममंत्रजापो हि सर्व-
विषधरविषनाशकृत् प्रतीत एव मान्त्रिकादीनां । अथवा विषं पानीयं प्रस्तात्वात् मणिकर्णिकाजलं तत्र 'हरं' इति
गृहं निवासो यस्य स विषगृहः, प्रायेण वाणारसीनगरवासिनः पञ्चाक्षितपञ्चरणं मणिकर्णिकातीरे एवं कुर्वाणा

सप्तस्मरणस्तवः ।

४३

दृश्यन्ते, स च सामर्थ्यात् कमठमुनिः, तस्य वृषं—धर्मं लौकिकैर्धर्मतया गृह्यमाणत्वात् पञ्चाग्नितपश्चर्यालक्षणं निर्नाशयतीति यः स काष्ठान्तर्दह्यमानसर्पदर्शनेन मानभ्रष्टकरणात्तस्य, अनेन विशेषेण श्रीपार्श्वस्य गृहस्था-वासः सूचितः । पुनः किंविशिष्टं पार्श्वं ? 'मंगलकल्लाणआवासं', मंगलानि आपदुपशमरूपाणि, कल्याणानि च संपदुत्कर्षरूपाणि, तेषां आवास इव आवासः क्रीडास्थानं । अयं च स्तवः श्रीपार्श्वनाथसंनिधिभिः पार्श्वयक्ष १ प-आवती २ धरणेन्द्रैः ३ अधिष्ठितः । ततः एतेषां पार्श्वयक्षादीनां त्रयाणामपि व्याख्यानं कर्तुं युक्तं । अतः पूर्वं पार्श्वयक्षव्याख्यानम्—अहमिति शेषः पार्श्वं पार्श्वयक्षं वन्दे अभिवादयामि “वद अभिवादनस्तुयोः” इत्युक्तत्वात्, किंविशिष्टं पार्श्वं ? उपसर्गहरं सम्यग्दृष्टीनां विष्णोपशमकर्तारम् १ । तथा पाशां पद्मावतीं वन्दे, पाशोऽस्या वामहस्ते अस्तीति अत्रादित्वात् मन्वर्थाये अप्रत्यये पाशा तां पाशां । किंविशिष्टां पाशां ? काम्यघनमुक्तां काम्यः कमनीयो घनः शरीरं तेन करणभूतेन मुद हर्षोऽर्थात् द्रष्टृनराणां यस्याः सकाशात् सा काम्यघनमुक्ता दिव्यवपुषा लोकानां हर्षजनका इत्यर्थः तां २ । तथा 'विषधरविषनिर्नाशं' धरणेन्द्रं वन्दे अभिवादयामि, विषं पानीयं धरतीति विष-धरो मेघ अर्थात्कमठाऽसुरसंबन्धी, तस्य विषं जलं निर्नाशयतीति निजफणरूपच्छत्रधरणेन वारयतीति विषधर-विषनिर्नाशस्तं वि० । किंविशिष्टं धरणेन्द्रं 'मंगलकल्लाणआवासं' अर्थः प्राग्वत् । अथवा मंगलकल्याण—श्रेयस्कर-णप्रगुणा या आज्ञा भगवच्छाशनं तथा आ—समंतात् वासो भावना यस्य सः तं मं० कल्याणकारिभगवदाज्ञा-भावितमानसमित्यर्थः ३ । इति अर्थत्रयकरणं । अस्यां च गाथायां प्रथमायां जगद्बालभ्यकरं, सौभाग्यकरं, मृतादिनिग्रहकरं, क्षुद्रोपद्रवद्रावणमिति[मित्यादि] यंत्राष्टकं, पार्श्वयक्षयक्षिण्यादिमन्त्राश्च सन्ति । इति प्रथमगाथार्थः ॥१॥

विसहरफुलिंगमन्त्रं, कंठे धारेह जो सया मणुओ ।

तस्स गहरोगमारी, दुट्टजरा जंति उवसामं ॥२॥

व्याख्याः—यो 'मनुजो' मनुष्यः, अथवा मनुगो मान्त्रिकः, मनुर्मन्त्रस्तं गच्छति “सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः” इति वचनात् जानातीति व्युत्पत्तेः । 'विषधरफुलिंगमन्त्रं' 'विसहर'ति 'फुलिंग'ति शब्दानां गर्भितत्वात् विषधर-फुलिंग इति नाम, स चासौ मन्त्रश्च मनसस्त्राणयोगात् मन्त्रणाद्वा गुप्तभाषणात् विषधरफुलिंगमन्त्रस्तं भगवन्नाम-गर्भितं अष्टादशाक्षरात्मकं, अथवा आदौ त्रैलोक्यबीजकमलार्हद्वीजैरंते च तत्त्वप्रतिपातबीजाभ्यामष्टाविंशति-वर्णात्मकमन्त्रविशेषं । “नमिऊणपासविसहरवसहजिणफुलिंग” इति अष्टादशाक्षरात्मको मन्त्रः, अग्निबीजं ओंकारः, सकलभुवनबीजं ह्रींकारः, पवनशब्देन वायुबीजं स्वा, नभःशब्देन आकाशवाची हाशब्दः । अत्र त्रीणि तत्त्वानि अग्नि १ वायु २ आकाश ३ रूपाणि, 'ॐ ह्रीं ह्रौं मम स्वाहा, बीजत्रयैः सह २८ वर्णात्मको मन्त्रः तं 'सदा' सर्वकालं धारयति धत्ते कंठस्थं करोति इति यावत् । तस्य किं भवति ? इत्याह—तस्य निरन्तरं जापकर्तुः ग्रहुरोग-मारिदुष्टज्वरा उपशमं आर्षत्वात् ह्रस्वाभावः उपशमनं गच्छन्ति यान्ति । ग्रहाश्च भूतप्रेतराक्षसादयः सूर्यादयो वा अशुभगोचरवर्तिनः, रोगाश्च वातपित्तादयः, मारिश्च सर्वगं मृत्युलक्षणं अशिवं, दुष्टज्वराश्च तापज्वरादयः, ततो द्रष्टे कृते ग्रहादयः । अस्यां द्वितीयगाथायां च प्रथमं विसहरफुलिंगमन्त्रं यन्त्रं बृहच्चक्राभिधानं सर्वसंपत्करं, द्वितीयं तु चिन्तामणिकरं चिन्तातीतार्थासाधकं नृपवह्निस्करशक्तिप्रभृतिक्षुद्रोपद्रवनिवारणं न्यस्तं । अस्यां गाथायां पार्श्वयक्ष १ पद्मावती २ धरणेन्द्रस्तवपक्षे तुल्यैव व्याख्या, प्रस्तुतमन्त्रस्य एतत्त्रयेण अधिष्ठितत्वात्, इति द्वितीयगाथार्थः ॥२॥

१. ॐ ह्रीं श्रीं क्षिप २ मम स्वाहा, अष्टाविंशतिवर्णैः सह इति प्रत्यन्तरे पाठः ।

४८

श्रीपूर्वाचार्यविरचितः

अधुना तृतीयगाथा व्याख्यायते—

**चिह्नं दूरे मंतो, तुज्ज पणामो वि बहुफलो होइ ।
नरतिरिणसु वि जीवा, पावंति न दुखखदोहग्गं ॥३॥**

व्याख्या—यो मन्त्रः पूर्वं उक्तः स मन्त्रस्तावत् दूरे तिष्ठतु । कथं ? पुरश्चरणोत्तरचरणहोमतपोजपादिषु प्रक्रियासाध्यत्वेन कष्टावहत्वात् दूरापास्त एव । आस्तां तव भवतः प्रणामोऽपि प्रशब्दस्य प्रकर्षद्योतकत्वात् विशुद्धश्रद्धापूर्वं कृतो नमस्कारोऽपि बहुफलो भवति—बहूनि फलानि सौभाग्या-रोग्य-धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद-राज्य-स्वर्गादीनि संपद्यन्ते । ‘प्रणामः’ अत्र एकवचनं च इदं ज्ञापयति—यदि एकः प्रणामोऽपि बहुफलो भवति तदा किं च ते बहुशः प्रयुक्ताः ? इति । पुनस्तव प्रणामकरणेन किं भवति ? इत्याह—‘जीवाः’ प्राणिनो नरतिर्यक्षु दुःखदौर्गत्यं न प्राप्नुवन्ति । नराश्च तिर्यचश्च इति द्वन्द्वे नरतिर्यचस्तेषु तत्रोत्पन्ना जीवा दुःखं शरीरं मानसं च । दुर्गतस्य भावो दौर्गत्यं दारिद्र्यमित्यर्थः । अत्र समाहारद्वन्द्वे कृते दुःखदौर्गत्यं, अयं अभिप्रायः—यदि कथंचित् नरेषु जीवा उत्पद्यन्ते ते नमस्कारकर्तारस्तदा हि रोगादिरहितत्वेन सद्यः संपद्यमानसमीहितार्थतया च न शरीरमानसदुःखभाजो भवेयुः, ऋद्धिसमृद्धितया च न जातु दारिद्र्येण उपदूयन्ते । तिर्यक्षु च उत्पद्यमानाः कमनीयकनकरत्नचिन्तामणिकल्पद्रुमपट्टतुरंगमजयकुंजरादिभावं आपद्यते तान् तान् पूजाप्रकारान् लभन्ते, परं न दुःखदौर्गत्यं । पाठान्तरे च ‘दुःखदोहग्गं’मिति, दुःखं च दौर्गत्यं च दुःखदौर्गत्यं । ननु ये प्रणामं कुर्वन्ति तीर्थकरस्य ते सम्यग्दृष्टय एव भवन्ति, सम्यग्दृष्टयश्च देवेष्वेव उत्पद्यन्ते “सम्मत्तमि अ लद्धे विमाणवज्जं न बंधए आउं” इति वचनात्, ततो ‘नरतिर्यक्षु’ इति कथमुक्तं ? उच्यते—अरे ! कदाचित् पूर्वबद्धायुष भवपारंपर्येण नरेषु तिर्यक्षु च उत्पद्यन्ते परं न दुःखदौर्गत्यं प्राप्नुवन्ति, भगवत्प्रणामप्रभावसामर्थ्यात्, अपिशब्दोऽत्र विस्मये, विस्मयश्च एवम्—किंल नरेषु तिर्यक्षु च दुःखदौर्गत्ययोः अभावो दुर्घटः इति परं तत्रापि तयोरभावः स्यात् । तथा पार्श्वयक्षादिस्तवपक्षे च एवं ज्ञेयम्—तिष्ठतु दूरे मन्त्रः तव पार्श्वयक्षस्य १ पद्मावत्याः २ धरणेन्द्रस्य ३ च प्रणामो बहुफलो भवति । “णम् प्रह्वे शब्दे च” (पा० धा० १००६) प्रणमनं प्रणामः प्रह्वं प्रह्वीभावः प्रसादाभिमुख्यमिति यावत् । अत्र तवेति कर्तरि षष्ठी, भगवत्पक्षे च कर्मणि, तथा प्रह्वीभावमात्रादेव नराः तिर्यचः नरःतिर्यचः नृपशवः पशुप्राया बालगोपालकृषीबलादयस्तेष्वपि मध्ये जीवा न प्राप्नुवन्ति दुःखदौर्गत्यं, ते हि प्रायो दुःखिता एव उपलभ्यन्ते केवलं त्वप्रसादात्तेऽपि निरन्तरं सुखिता एव स्युरिति गाथार्थः । अस्यां गाथायां बन्ध्याशब्दापहं क्षेमं, मृतवत्सानां अपत्यजीवनं, काकबन्ध्यादोषप्रमोषिबालपीडानिवारणं, दुर्भगानां सौभाग्यावहं, अपस्मारदोषापहारि च यंत्रं, एतानि यंत्राणि सूचितानि संति परं तानि सर्वाणि गुरुगम्यानि ज्ञेयानि ॥ इति तृतीयगाथार्थः ॥३॥

अथ चतुर्थगाथा—

**तुह सम्मत्ते लद्धे, चिन्तामणिकल्पपायवम्भहि ।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अजरामरं ठाणं ॥४॥**

व्याख्या—हे श्रीपार्श्व ! तव सम्यक्त्वे विशिष्टप्रणामात्मके देवादितवत्रयनिश्चयरूपे लब्धे सति जीवा अविघ्नेन अजरामरं स्थानं मुक्तिं प्राप्नुवन्ति । विघ्नानामभावोऽविघ्न इत्यव्ययीभावः तेन अविघ्नेन अजरामरं इत्यत्र न विद्यते जरा यत्र तत् अजरं, न म्रियते अस्मिन्निति अमरं ‘बाहुलकादल्’ अजरं च तत् अमरं च अजरामरं, विशेषणकर्मधारयः । किंविशिष्टे सम्यक्त्वे चिन्तामणिकल्पपादपाम्यधिके—चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदायी देवता-

सप्तस्मरणस्तवः ।

४९

धिष्ठितो रत्नविशेषः, कल्पपादपश्च कल्पवृक्ष उत्कृष्टकालभावी अंतःकरणसंभावितफलप्रदो वृक्षभेदः । ततः चिन्तामणिश्च कल्पपादपश्च चिन्तामणिकल्पपादपौ ताभ्यामभ्यधिकं अतिशयज्ञानाधिकं चिन्तामणिकल्पपाद-
पाभ्यधिकं तस्मिन् चि० । तौ हि प्रसन्नौ अपि ऐहिकमेव फलं दातुं समर्थौ, त्वत्प्रणामस्तु चिन्तातीतमोक्षलक्ष-
णपारलौकिकफलप्रदानसमर्थ इति ततो युक्तमेव ताभ्यां अधिकत्वं अस्य । अत्र पार्श्वयक्ष १ पद्मावती
२ धरणेन्द्राणां ३ स्तवपक्षे पुनः इत्थं घटना कार्या—हे पार्श्वयक्ष ! १ हे पद्मावती ! २ हे धरणेन्द्र ! ३, तव
तव सम्बन्धिनि सामंत्ये लब्धे सति जीवा अविन्नेन एवंविधं स्थानं पदं प्राज्यसाम्राज्यादिकं प्राप्नुवन्ति, संमतस्य
बहुलमतस्य भावः सामंत्यं बाल्लभ्यकमित्यर्थः तस्मिन् । ननु स्थानशब्देन कथं प्राज्यसाम्राज्यादिकं लभ्यते ?
इत्याह—असाधारणविशेषणात् । किं तदसाधारणविशेषण ? मित्याह—किंविशिष्टं स्थानं ? ‘अयरामरं’ अयः
अनुकूलं दैवं तेन रामा रमणीया रा दीप्तिर्यत्र तत् अयरामरं उत्कृष्टभाग्यवशात् हि राज्यादिकपददीप्तिः
सुतरां जायते एव पुरुषाणां, यः तव संमतो भवति सोऽनुकूलदौवायितं राज्यादिकपदमवाप्नोत्येव इत्यभिप्रायः ।
किंविशिष्टे तव सामंत्ये ? चिन्तामणिकल्पपादपाभ्यधिके—एताभ्यां अत्यधिकफलदायके । अथवा पीयते इति
पायः—पानकं वल्भश्च—भोजनं ततः पायश्च वल्भश्च पायवल्भौ चिन्तामणिकल्पौ मनोवाञ्छितरसप्रपूर्णात्
चिन्तारत्नतुल्यौ पायवल्भौ ताभ्यां हितं अनुकूलं तत्संपादकत्वात् तस्मिन् । अथवा अकारप्रलोपात् किंविशिष्टा
जीवाः ? अचिन्ताश्चिन्तावर्जिताः । किंविशिष्टे सामंत्ये मणिकल्पपायवल्भहिते मणयः—कर्कतनादयः तैः कल्पनं
रचना येषां तानि मणिकल्पानि रत्नघटितानीत्यर्थः, तथाविधानि यानि पायत्ति पात्राणि स्थालादिभाजनानि
तेषु वल्भो भोजनं तेन कृत्वा तस्मै वा हिते तव सामंत्ये, त्वत्प्रसादात् सुभगानां ऐश्वर्यशालितया रत्नमय-
पात्रभोजनोपपत्तेः । अस्यां च गाथायां सर्वार्थसाधकं देवकुलं कल्पदुमयन्नन्यासश्च प्रतीत एव, परं सोऽपि
गुरुगम्यः ॥४॥

श्रीपार्श्वदिस्तवं पूर्णाकुर्वन् पञ्चमगाथामाह—

इयं संयुओ महायस !, भक्तिभरनिभरेण हिययेण ।

ता देव ! (दिज्ज)देसु बोहिं, भवे भवे पास ! जिणचंद ! ॥५॥

व्याख्या—हे पार्श्व ! इति पूर्वोक्तप्रकारेण मया इति शेषः । त्वं संस्तुतः सम्यक् वर्णितः । केन ? हृदयेन
‘ता’ तस्मात् यतः त्वं संस्तुतः ततः प्रार्थ्यते ‘देव !’ त्वं अर्थसामर्थ्यात् मह्यं बोधिं रत्नत्रयप्राप्तिं परमवे जिनधर्म-
प्राप्तिं वा ‘देसु’ देहि भवे भवे यावन्मोक्षं न प्राप्नोमि । हे महायश ! महत् त्रैलोक्यव्यापि यशः कीर्तिर्यस्य
स महायशः तस्य संबोधनं हे महा० । अथवा अमा रोगास्तान् हन्तीति अमहा आगः पापं स्यति अन्तं
नयति इति आगस्सः, ततो विशेषणकर्मधारयः, तस्य संबोधने हे अम० । किंविशिष्टेन हृदयेन ? ‘भक्तिभर-
निभरेण’ । भक्तिः—आन्तरप्रीतिः तस्या भरः प्राग्भारः तेन निर्भरं सम्पूर्णं तेन भ० । हे जिनचन्द्र ! जिना
रागादिजेतारः सामान्यकेवलिनः तेषु मध्ये चन्द्र इव चन्द्रः जिनचन्द्रस्तस्य संबोधनम् हे जिनचन्द्र !, यक्षपक्षे
तु एवं अर्थयोजना—हे पार्श्वनाम यक्ष ! त्वं मयेति शेषः । इति पूर्वोक्तप्रकारेण संस्तुतः सन् मह्यं भवे भवे
बोधिं जिनधर्मप्राप्तिं देहि । न च वाच्यं यक्षात् बोधिबीजप्रार्थनं अनुचितं, यतः पूर्वाचार्यैरिति भणितमस्ति—
“सम्मदिट्ठी देवा दिंतु समाहिं च बोहिं च” (४७) इति । न च वाच्यं, ‘अयं सम्यग्दृष्टिर्न’ यतः श्रीमद्रवाहु-
स्वामिभिः परमार्हतत्वात्तस्य इदं विशेषणं भणितं तथाहि—हे जिनचंद्र ! जिन एव श्रीअर्हन्नेव चंद्र आह्लादको
यस्य सः जिनचन्द्रः तस्य संबोधनम् हे जिनचन्द्र ! किं विशिष्टः त्वं ? एवंविधेन हृदयेन मनसा उपलक्षित

इति शेषः । किंविशिष्टेन हृदयेन 'महायसभक्तिभरनिम्भरेण' महायशाः प्रस्तावात् श्रीपार्श्वस्तत्र यः भक्तिभरः तेन निर्भरेण पूर्णेन हे देव । व्यन्तरजातीय ! २ । पद्मावतीपक्षे तु अर्थयोजना एवं कर्तव्या—हे देवते ! पद्मावति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण त्वं 'उ' इति निपातः सम्बोधने संस्तुता सती मह इति मम स्तोतुः । असु-बोधिं भवे २ प्रास्य प्रकर्षेण क्षिप निराकुरु देवदे !, अत्र शौरसेनीभाषां विनापि तकारस्य दत्वं, सुशोभना बोधिः सुबोधिः न सुबोधिः असुबोधिः तां कुतीर्याऽभिप्रेतां सातिचारां वा तां "एदो तो तः पदान्ते" इति 'अ'स्य लुकि कृते रूपं, हे 'अयसभक्तिभरनिम्भरे' अयशोऽपकीर्तिः, अथवा आयं धनादिलाभं स्थिति समापयन्तीति आयसाः शत्रवः, तस्य अयशस्य तेषां आयसानां वा भक्तिर्मञ्जनं, तत्र विषये यो भरोऽप्याग्रहः तेन निर्भरा पूर्णा तस्या आमन्त्रणं हे अयशोभक्तिभरनिम्भरे !, अथवा आयसभक्तिभरनिम्भरे ! । हे ननहितदे ! हौ नजौ प्रकृत-मर्थं गमयतः, इति न्यायात् हितदे एव, हितं अनुकूलं वस्तु भक्त्येन्यो ददातीति हितदा तस्याः संबोधनं हे हितदे ! २ । धरणेन्द्रपक्षे तु एवं अर्थयोजना—हे 'हिअएण' ! हे धरणेन्द्र ! त्वं इति शेषः । 'जिण' जय सर्वो-त्कर्षेण वर्तस्व, हृदयेन उरसा गच्छतीति हृदयगा उरगास्तेषां इनः स्वामी हृदयगेनः नागराजो धरणेन्द्रः तस्य सं० हे हिअयगेण ! हे हृदयगेन ! "किसलयस १ कालायस २ हृदये यः" (प्रा. १।२६९) इत्यनेन सस्व-रयलोपे "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" (प्रा० १।१७७) दगयोलोपे च "हिअय" त्ति रूपं तत इनशब्देन सह संधौ 'हिअएण'त्ति सिद्धं । ता इति तस्मात् हे देव हे भवनपतीन्द्र ! मह्यं बोधिं देहि भवे भवे हे पासजिणचन्द्रः पाशं कर्मबन्धं जयति इत्येवं शीला अचि, पूर्ववत् णे च पाशजिणाः पाशजेतारः सुविहितसा-धवस्तान् प्रति चन्द्र इव उपसर्गतापनिर्वापणेन आह्लादकत्वात्, तस्यामन्त्रणं हे पासजिणचन्द्र ! । अथवा पाशेन जयति शत्रून् वशं नयतीति प्राकृते पासजिणा पद्मावती तां चंदयति आह्लादयति भर्तृत्वात् अचि प्रत्यये पासजिणचन्द्रः तस्य सम्बोधनं हे पासजिणचन्द्र ! 'जिण' इत्यत्र ह्रस्वत्वं च "दीर्घह्रस्वौ मिथोवृत्तौ" इति प्राकृत (१।४) सूत्रात् । अस्यां पञ्चमगाथायां शान्तिकं पौष्टिकं च भूतप्रेतशाकिनीज्वरादिनाशनं सर्वरक्षा च निक्षिप्ता । मन्त्राश्चात्र दुष्टकोथापनपुरक्षोभक्षेमकरणादिकार्यसाधकाः । अनेनैव स्तोत्रेण त्रिसप्तकत्वः (२१) अष्टशतं (१०८) च अभिमन्त्रितेन धूपबलिकर्मादिना कृतोपवासः पुरुषः तत्तदनर्थसार्थं व्यर्थयति, इति पञ्चमगाथार्थः ॥५॥

तथा सर्वविधानां मन्त्राणां च उपादानकारणं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारः । तत्र परमेष्ठिनो नमस्करणीयाः । ते च अत्र स्तवे सूचिताः सन्ति । तत्र प्रथमगाथायां प्रथमपदे 'उवसग्गे'ति उवशब्दे 'उप' इति अक्षरद्वयं 'पोव' इति पस्य वत्वं पदैकदेशे पदसमुदायात् उपशब्देन उपाध्यायाः । तथा द्वितीयगाथामेव प्रथमपदे 'विसहरे'ति विषशब्देन साधव उच्यन्ते, विषमिवविषं सर्वरसात्मकत्वोपदर्शनात्, विषभूता हि साधवः तत्तत्पात्रा-पेक्षया तत्तद्रसस्पृशो भवन्ति । उक्तं च भगवता प्रस्तुतस्तोत्रकारेणैव दशवैकालिकनिर्युक्तौ श्रमणानां विष-समानत्वं २ । तृतीयगाथायां प्रथमपदे 'चिट्टु' इत्यत्र वर्णद्वयेन आचार्याः उक्ताः कथं ? तीर्थक्षेत्रेषु मोक्षं गतेष्वपि तीर्थं यावत् पश्चादपि तिष्ठन्तीति । प्राकृतलक्षणः 'चिट्टादेशः' । अथवा चित् तत्त्वज्ञानं द्रव्यगुणपर्या-यैरनुयोगस्वरूपा तत्र तिष्ठन्तीति चिस्था सूरयः प्राकृते 'चिष्ठ' इति ३ । चतुर्थगाथायाः प्रथमपदे 'तुह' इति वर्णद्वयेन अर्हन्त उक्ताः, कथं ? 'तुह दुह अर्दने' तोहन्ति-अर्दयन्ति घातिकर्मचतुष्टयं सकलजगतसंशयराशिं वा इति तुहा विहरमाणा उत्पन्नकेवलज्ञानाः, नाभ्युपांतलक्षणे के "तुह" इति रूपं ४ । पञ्चमगाथायां आदौ 'इय' इति वर्णद्वयेन सिद्धाः । कथं ! "इण् गतौ" इता गता अपुनरावृत्तयो मोक्षमिति ५ ॥ इति पञ्च परमे-ष्ठिनः । अत्र यद्यपि अर्हतामेव मुख्यत्वं युक्तं तथापि एतत् स्तोत्रं श्रुतकेवलरचितत्वात् सूत्रं, तच्च उपाध्यायै-

सप्तस्मरणस्तवः ।

५१

रेव अध्यापनीयमिति आदौ उपाध्याया उक्ताः १ । उपाध्यायस्य समीपे सूत्रं अधीयमानस्य साधव एव साहाय्यं कुर्वन्ति इति उपाध्यायानन्तरं साधव उक्ताः २ । तथा एवं अधीतस्य सूत्रस्य अर्थं आचार्या एव कथयन्ति ततः साधूनां पश्चात् आचार्या उक्ताः ३ । आचार्योपदेशेन च अर्हन्तो ज्ञायन्ते, अर्हन् च एतत्स्रोत्रे वर्णनीयो भगवान् पार्श्व इति आचार्यानन्तरं अर्हन्त उक्ताः ४ । एतत्स्रोत्रपाठाच्च भावतः परंपरया सिद्धत्वं भवति इति अर्हदनन्तरं सकलसदनुष्ठानफलभूताः सिद्धाः प्रतिपादिताः ५ ॥५॥

श्रीजिनप्रभसूरीणां, टीकाया अनुसारतः ।

व्याख्यानं कृतवानेवं, गणिसमयसुन्दरः ॥१॥

मतेः मान्द्यान्मनोऽस्वास्थ्याद्, वैपरीत्यं मया कृतम् ।

तच्छोध्यं पण्डितैर्यस्मात्, सन्तः स्युरूपकारकाः ॥२॥

श्रीमत्स्वरतरगच्छे समभूवन्, सूरयोऽत्र जिनचन्द्राः ।

तच्छिष्यसकलचन्द्रा, -मुख्याः शिष्येषु सर्वेषु ॥३॥

तच्छिष्य-समयसुन्दर, -नामानः पाठकाः प्रसिद्धास्ते ।

सप्तस्मरणसुवृत्तिं, चक्रुः सुखबोधिकां नाम्ना ॥४॥

तूणिना-फसला-दत्त, -वसत्यां वृत्तिरुत्तमा ।

श्रीजालोरपुरे बाण-निधि-शृंगारसंभवति ॥५॥ (१६९५)

सप्तस्मरणटीकेयं, निर्मिता न च शोधिता ।

वृद्धावस्थावशाच्छोध्या, परं श्रीहर्षनन्दनैः ॥६॥

॥ इति श्रीसप्तस्मरणवृत्तिः सम्पूर्णा ॥

**ग्रंथाग्रं २००० वा० श्रीराजकीर्ति गणि तत्-शिष्य पं० राजनिधानजी
तत् शिष्य पं० गिरधरलिखितम् ॥ कल्याणमस्तु ।**

भा. श्रीकैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर

श्रीमहावीर जैन आराधना केन्द्र

कोब (गांधीनगर) पि ३८०००९



